वेदांत के मूल

लेखक

डॉ. गोपाल शाह (Ph.D.-USA)

३०२,पाम व्यु रेसीडेन्सी, राधा - कृष्णा पार्क चोकडी,

अकोटा, वडोदरा -३९००२०.

E-mail : gopalashaha@yahoo.com

अनुवादक

डॉ. सीताराम अग्रवाल (M.Sc., Ph.D, (Baroda))

सेवा निवृत्त प्राध्यापक, म.स.विश्वविद्यालय, वडोदरा.

M.: 9825334467 E-mail : agrawalsr@yahoo.com

प्रकाशक

दीक्षित उपाध्याय

२०२, आकार फ्लेट्स, SNDT कोलेजके सामने,

अकोटा, वडोदरा -३९००२०.

M. 91-9825043371; E-mail : dixitupadhyay@rediffmail.com

त त्त्व म सि

सर्व हक्क लेखक, प्रकाशक और अनुवादक के आधीन

डिझाईनींग : प्रकाश पार्टे

प्रिन्टिंग : जयेश ओफसेट प्रिन्टिंग

प्रथम संस्करण : जनवरी, २०१८

Digital Marketing
Courtsey by
Kishor Dubey
www.yapconcepts.com

समर्पण

आदि शंकर ब्रह्म विद्यापीठ
सोमाश्रम, उजेली, उत्तरकाशी -२४९१९३,
उत्तराखंड, हिमालय.

ब्रह्म विद्यापीठ भारतकी प्राचीन आश्रम संस्कृति का पुनरुत्थान कर पुरानी प्रणाली के अनुसार संस्कृत और वेदिक दर्शनों का अभ्यास करवा रही है ।

सूचना : हम आपसे भारतकी प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करने के अभियान का समर्थन करने की प्रार्थना करते हैं ।
कृपया आपकी श्रध्धा अनुसार दान ब्रह्म विद्यापीठ को भेजें ।

Bank to bank transfer or online transfer may be done **DIRECTLY** to the Brahma Vidya Peeth : State Bank Of India, Uttarkashi, IFSC Code : SBIN0001172; Account # 31290629911.

Please notify your transaction # and mention the amount of donation through E-mail to : **Somashram@gmail.com**

You will receive acknowledgement through E-mail along with income tax exemption code.

CONTACTS : Visit the website : **www.somashram.in**

Adi Shankara Brahma Vidya Peeth	:	01374222550, 91-9458349345
Swami Sharvananda	:	91-9897474638
Swami Haribrahmendrananda	:	91-9458134079
Swami Brahmatmasvarup	:	91-9411713579
Dr. Gopal Shah	:	gopalashaha@yahoo.com
Dr. Sita Ram Agrawal	:	91-9825334467; agrawalsr@yahoo.com
Sri Dixit Upadhyay	:	91-9825043371; dixitupadhyay@rediffmail.com

---

Include **"Spiritual"** in your subject of email for our prompt attention.
REQUEST for BOOK : Contact any one of the above

अनुवादक की कलम से -

श्री गोपालभाई के साथ उनके द्वारा लिखी गई प्रथम पुस्तक ''वैदिक धर्मों का उद्‌विकास एवं वैविध्य'' के संपादन–संशोधन व अनुवाद के समय ही आदितत्त्वों का उपयोग करके वैदिक सिद्धान्तों का निरूपण करने के विषय में चर्चा–विचारणा होने लगी थी । निरन्तर अपने लक्ष्य पर जुटे रहकर अथक परिश्रम करके अपने–गणित शास्त्र व वेदान्त शास्त्र–दोनों के अध्ययन का लाभ उठाकर उन्होंने यह रचना करके प्रशंसनीय साहस का परिचय दिया है। मैंने भी अपनी योग्यता के अनुसार इसके विषय को भलीभाँति अपनी मातृभाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रथम पुस्तक का अनुवाद मेरा पहला साहस था, पर सभी पाठकों के प्रोत्साहक अभिप्रायों से प्रेरित होकर मैंने पुनः यह दुःसाहस किया है ।

वैदिक तत्त्वज्ञान का विषय अत्यन्त गूढ है । विज्ञान जितना गहन व प्रत्यक्षदर्शी है, उससे यह विषय किसी मायने में कम नहीं है । विज्ञान जिस प्रकार मानव जीवन से जुड़ा शास्त्र है, उसी प्रकार अध्यात्म मानव जीवन को सुखमय बनाकर कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करता है । सामान्य लोगों ने अपने जीवन में इसको कोई स्थान नहीं दिया है । क्रियाशील जीवन पूरा होने के पश्चात वृद्धावस्था में ही लोग समय बिताने के लिये इसका अध्ययन करते हैं । पर यह बहुत बडी भूल है । अध्यात्म मानव जीवन के मूल में ही है । बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक, प्रत्येक अवस्था में मनुष्य का विवेक व अन्तरात्मा की आवाज, ये अध्यात्म ही है । केवल ग्रन्थों को पढकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह एक विद्याभ्यास हो सकता है, पर अध्यात्म कहने को अपूर्ण है । विवेकपूर्ण एवं अन्तरात्मा के सत्य का साथ देते हुए जो जीवन यापन किया जाता है, वह पूर्ण अध्यात्म कहा जा सकता है । हमारे देश के अनेक महान् पुरुष, सन्त आदि इसके उदाहरण हैं ।

मेरा यह सब कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है, कि चाहे पूर्व पुस्तक ''वैदिक धर्मों का उद्‌विकास एवं वैविध्य'' को लें, अथवा प्रस्तुत पुस्तक को, ये सभी के लिये उपयोगी हो सकती हैं । हमारी संस्कृति एवं हमारी विरासत का आदर करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये ये दोनों ही उपयोगी हैं।

अन्त में श्री गोपालभाई के द्वारा प्रस्तुत किये गये इस ग्रन्थ के लिये मैं अपनी शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ, तथा आशा करता हूँ कि (तीन भाषाओं– अंग्रेजी, गुजराती व हिन्दी – में प्रकाशित होने के कारण) अधिक–से–अधिक पाठक गण इसका लाभ उठाकर हमारी वैदिक सम्पदा का रसास्वादन करके आनन्द का अनुभव करेंगे ।

इस अनुवाद में अवश्य अनेक त्रुटियाँ रही होंगी । पाठक गण से अनुरोध है, कि वे निःसंकोच अपने सुझाव हम तक पहुँचाने का कष्ट करें । अनेक शुभ कामनाओं के साथ :

- सीताराम अग्रवाल

प्रकाशकीय

मुझे डॉ. गोपालभाई के सांनिध्य का लाभ बहुत लम्बे समय से प्राप्त है। यों तो उन्हें औपचारिक नाम से सम्बोधन करने में संकोच होता है, क्योंकि वे सभी के लिये गोपाल काका ही हैं । उनके परिचय (सम्पर्क) में आने वाले सभी को शिक्षण, आध्यामिक तथा व्यवहारिक आदि विषयों में योग्य परामर्श प्राप्त होता रहता है ।

प्रस्तुत पुस्तक, 'वेदान्त के मूल' उनकी तीन क्षेत्रों की योग्यता का त्रिवेणी संगम है : वे Syracuse University, Syracuse, New York में गणितशास्त्र में संशोधन कार्य हेतु १९६७ में अमेरिका गये तथा वहां से उन्होंने सैद्धान्तिक गणित में Ph.D. डिग्री प्राप्त की। कुछ समय पश्चात् उन्होंने कम्प्यूटर उत्पादन क्षेत्र की एक संस्था में इस क्षेत्र में हो रही प्रगति का अध्ययन करके इस विषय में मार्गदर्शन देने का कार्य किया । इसके अन्तर्गत Internet Communication तथा Telephony का अध्ययन करके उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियों में महत्वपूर्ण कार्य किया । १९९९ में सेवा निवृत्त होने के पश्चात् उनका आकर्षण मातृभूमि की ओर हुआ तथा अब वे प्रतिवर्ष ६ महने यहां भारत आते है । 'अनन्त की खोज' में कुछ वर्ष व्यतीत करके अब वे प्रतिवर्ष उत्तरकाशी जाते हैं, तथा ४–५ सप्ताह वहाँ विद्वान सन्तों के सानिध्य में रह कर प्रस्थानत्रयी का अभ्यास करते हैं । पूज्य स्वामी श्री शर्वानंदजी से मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन मिलता था। एवं अपने क्षेत्र के Communication Software तथा गणितशास्त्र के अनुभव और वेदान्त के त्रिविध संयोजन स्वरूप उनकी यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत है ।

इस पुस्तक को समझने की मेरी पूर्ण तैयारी नहीं थी । परन्तु मेरी विचार शक्ति के अनुसार मैं इस तरह समजता हूँ : जो निराकार, निरंजन तथा एक मात्र (अद्वितीय) है, उसने इस संसार को अपने से ही उत्पन्न किया । इसकी स्थिति तथा लय भी उसी में है । यह द्वैत की रचना इतनी सुन्दर है कि अद्वैत का तो आभास होना भी कठिन है। प्रत्येक उपनिषद् का लक्ष्य अद्वैत की प्रतीति करवा कर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर कराने का है ।

प्रस्तुत पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि गणित में Peano Axioms के अनुसार ही वेदान्त के सिद्धान्त भी केवल चार मूल सिद्धान्तों पर आधारित है ।

जैसा कि वेदान्त के विद्धानों का मत है, कि वेदान्त का विज्ञान के साथ समन्वय होने से उत्कृष्ट तत्वज्ञान प्राप्त होता है, यह पुस्तक इस मत को समर्थन देती है ।

मेरा सद्भाग्य है कि मुझे इस पुस्तक का प्रकाशन और प्रचार का काम मिला।

- दीक्षित उपाध्याय

ॐ तत् सत्

वेदान्तविवेक

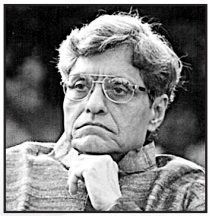

जो बुद्धिगम्य, तर्कगम्य अथवा प्रत्यक्ष नहीं होता, वह सब निरर्थक नहीं होता है । वेदान्त इन सबका महत्वपूर्ण प्रमाण है, जो पार्थिव अनुभूति से पर है । महर्षि चरक का एक सूत्र है : ''प्रत्यक्षं हि अल्पं, अनल्पं अप्रत्यक्ष'' अर्थात जो–जो प्रत्यक्ष है, वह अल्प है, परन्तु जो कुछ अप्रत्यक्ष है, वह विराट है । प्रत्यक्ष के टापू के चारों ओर फैले विशाल महासागर का महत्व कम नहीं है । इस विषय पर प्रो. गोपालदास शाह ने गहरे अभ्यास के अनन्तर यह पुस्तक लिखी है । इसमें जो लिखा है उसे उन्होंने दलीलपूर्वक तथा वेदान्त विवेक को मान्य रखते हुए अपने तथ्यों को तर्कशुद्ध प्रणाली से प्रमाणित किया है ।

इस पुस्तक के लिये मेरी शुभकामना तथा प्रसन्नता !

गोपालभाई को धन्यवाद !!

गुणवंत शाह

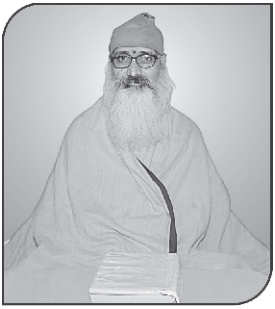

आमुख

हिन्दु शास्त्र पूर्णरूप से वैज्ञानिक है, तथा स्थल, समय एवं संयोगों से अबाधित हैं। वे इतना सुन्दर तत्वदर्शन कराते हैं कि यदि उनका गहन अभ्यास करके, योग्य प्रकार से समझकर क्रियान्वित किया जाय, तो अवश्य ही निरपेक्ष आनन्द (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है। हिन्दु शास्त्रों को वैज्ञानिक कहा जाता है इसका कारण समझने के लिये उदाहरण रूप में एकादशी की विधि समझने योग्य है। प्राणियों को भूख के विषय में सहज स्फुरणा होती हैं, पेट की साधारण अनियमितता का आभास होने मात्र से वे भोजन का त्याग करते हैं, किन्तु मनुष्य इस बात को नहीं सीखते। वे आवश्यकता से अधिक खाते हैं तथा पेट को आराम नहीं देते। हमारे शास्त्र – स्मृति ग्रंथ प्रत्येक पक्ष में दशवें दिन एक समय भोजन करने को कहते हैं। तदुपरान्त इस समय संयम रखते हुए प्रार्थना करने की सलाह देते हैं। इससे शरीर व मन की शुद्धि होती है। इस प्रकार हिन्दु शास्त्रों की प्रत्येक विधि शरीर तथा मन की शुद्धि का सूचन करती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मन की शुद्धि (पवित्रता) की क्या आवश्यकता है? मन की पवित्रता के बिना ब्रह्मज्ञान अलभ्य है। तो ब्रह्मज्ञान की क्या आवश्यकता है? वह दुःखरहित, निरपेक्ष, अनंत आनन्द अर्पित करता है। पवित्र मन का अर्थ क्या? वासनायें मन की अशुद्धि हैं। इस लोक की वासनाओं से दूर रहने हेतु मन की शुद्धि आवश्यक है। व्यक्ति की वृत्ति, सच्चे अथवा मिथ्या विचार, तथा उनका प्रतिकार करने की शक्ति से मन का अस्तित्व समझा जा सकता है। हमें सावधानी पूर्वक मन की दिशा का निरीक्षण करते रहना चाहिये। हमें ध्यान रखना चाहिये कि इसकी दिशा हमें अपने उत्कृष्ट ध्येय के साथ सहयोग करती हुई प्रगति की ओर ले जा रही है अथवा नहीं। सामान्यतः ध्येय, तथा इनकी प्राप्ति के लिये अपनाये गये साधनों में विषमता होती है। मन की पवित्रता, का अर्थ है इहलौकिक वासनाओं से सावधान रहते हुए, उसे आध्यात्मिकता के मार्ग पर अग्रसर करना।

हम सभी दुःख रहित, निरपेक्ष तथा अनन्त आनन्द की अपेक्षा रखते हैं, परन्तु हम इन्द्रियजन्य आनन्द में रुचि रखते हैं, जो क्षणिक आनन्द देनेवाला होता है, तथा अन्त में दुःख ही इसका परिणाम होता है। कोई भी इहलौकिक वस्तु से, अथवा वेदों में बताये कर्मकाण्ड के यज्ञों से निरपेक्ष तथा अनन्त आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता। (कठ १.२.१०) **'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्'** – अनित्य साधनों से नित्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल ब्रह्म (आत्मा) ही नित्य है। ब्रह्मज्ञानी, जिसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, वही निरपेक्ष तथा अनन्त आनन्द भोगने का अधिकारी है। क्योंकि वह दुनिया से अलिप्त रहता है। (भगी २.५५) ब्रह्मज्ञानी की स्थिति बतलाती है:

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

हे पार्थ, जो मन की सर्व कामनाओं का त्याग करता है, तथा जिसका आत्मा, आत्मा में ही संतुष्ट रहता है वह स्थितप्रज्ञ है। (मुण्ड ३.२.९) कहता है कि ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म बन जाता है। (भगी १८.५४) आगे कहती है :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

जिसने ब्रह्मत्व प्राप्त कर लिया है तथा प्रशान्त मनवाला है, वह दुःखी नहीं होता, तथा वह कामना नहीं करता। वह सर्व में समदृष्टि रखता है। वह मेरी परम भक्ति प्राप्त करता है।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति निरपेक्ष तथा अनन्त आनन्द की आकांक्षा रखता है पर ध्येय प्राप्त करने हेतु क्या करना चाहिये, यह वे नहीं जानते। मैत्रेयी तथा महर्षि याज्ञवल्क्य का संवाद इस विषय पर अधिक प्रकाश करता है (बृहद् २.४.५)।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिःप्रियो भवत्या-

त्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै काम

भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

न वा अरे सर्वस्य कामाय

सर्व प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रियंभवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।।५।।

महर्षि कहते है, ''पत्नि पति को जो चाहती है, वह पति के लिये नहीं, वह अपने स्वयं के कारण ही चाहती है । इसी प्रकार पति जो पत्नि को चाहता है, वह पत्नि के लिये नहीं, वह अपने कारण ही चाहता है । ...जो जिसको चाहता है, वह अपने लिये ही चाहता है । आत्म साक्षात्कार श्रवण, मनन व निदिध्यासन से हो सकता है । इस प्रकार होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे सर्वज्ञता उपलब्ध होती है ।'' इसलिये केवल आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये । (बृहद् २.४.७) ''आत्मा इत्येव उपासित।'' तो यह अनन्त आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है? क्या यज्ञ करने से अथवा घोर तपश्चर्या करने से अथवा शास्त्रो के पठन–पाठन से यह लभ्य है? नहीं, इसमें सफलता प्राप्त करने का तरीका अलग ही है । कठ (१.२.२३)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम् ।।२३।।

''यह आत्मा वेदाभ्यास अथवा बुद्धि अथवा अत्यन्त श्रवण से उपलब्ध नहीं है । जिसने आत्मज्ञान प्राप्त करने का पक्का निश्चय किया है, तथा जो इसके लिये सबकुछ समर्पित कर रहा है, उसके लिये यह आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है ।''

निरपेक्ष आनन्द की स्थिति प्राप्त करने के लिये श्रुति बारम्बार जोर देकर कह रही है, ''आत्मा को ही जानो ।'' इस ध्येय को सिद्ध करने में हम क्या भूल करते है? हमारी श्रद्धा में कमी है, तथा इसमें पूर्णता लाना कठिन है । श्वेतकेतु, जो अधिकारी था, उसे भी शिक्षा के समय, यही परेशानी थी । (छांदो ६.१२.२)

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ।।२।।

पिताश्री (उद्दालक) कहते हैं ''जिस सूक्ष्म तत्त्व में से यह विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है, वही यह सूक्ष्म तत्त्व है, जिसे तुम देख नहीं सकते । मेरा कहना मानो, वत्स, मेरे वचनों में श्रद्धा रखो ।'' (भगी ४.३९) **''श्रद्धावान्लभते ज्ञानम्''** श्रद्धायुक्त व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है । (बृहद् २.४.५) **आत्मा वा अरे श्रोतत्य.....** आत्मा का श्रवण करो । श्रवण में उत्पन्न शंकाओं का निवारण श्रद्धा से होता है । श्रुति में श्रद्धा रखने के अनन्तर इन्द्रियों को अन्तर्वर्ती बनाना अगला कदम है । (कठ २.१.१)

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।१।।

''स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्गामी बनाई, जिससे वे बाहर की (दुनिया) ओर देखती हैं परंतु अंतरात्मा को नहीं देखतीं । कोई अमरत्व प्राप्त करने का इच्छुक धीर वीर ही इन्द्रियों को अंतर्वर्ती बनाकर अंतरात्मा को देखता है ।'' यम और नियम इन्द्रियों को संयम में रखने में सहायक होते हैं । इससे विवेक तथा वैराग्य स्थिर रहता है । फिर क्या? अब त्याग की आवश्यकता है । (ईशा–१) :

ॐ ईशावास्यंमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीधा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

इसमें कहा गया है : ''जगत में जो कुछ भी है सर्व परमात्मा से आवृत्त है । (अल्पकालीन वस्तुओं का) त्याग करके आत्मा का रक्षण करो; लोभ न करो, तथा अन्य किसी के धन की इच्छा मत करो । यह धन किसका है?'' हिरण्यगर्भ से सूक्ष्म जन्तु तक, सब कोई, नाम, रूप, क्रिया, अस्ति, भाति तथा प्रिय में ही समाये हुए हैं । हम आत्मा के सच्चे स्वरुप को जानते नहीं हैं, तथा अस्ति, भाति, प्रिय को नाम, रूप, क्रिया ग्रसती है । हमारा मन इन छ विषयों में ही मग्न रहता है, अतः (कठ १.३.१४) कहता है: **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।** माया निद्रा में से उठो, जागो और

सावधानीपूर्वक अनुभव करो कि यह समस्त जगत आत्मा से ही आवृत्त है (सच्चिदानन्द–अस्ति, भाति, प्रिय) । अर्थात् यह सब अन्य कुछ नहीं है, केवल आत्मा ही है । यहाँ भी श्रुति वैज्ञानिक पद्धति अपनाते हुए **जाग्रत उत्तिष्ठत** के क्रम में न रहकर उत्तिष्ठत जाग्रत कहती है । बच्चे को क्रियाशील बनाने के लिये प्रथम पैरों पर खड़ा रहना सिखाया जाता है, तदनन्तर वह क्रियाशील होता है । श्रुति हमें उठकर, सक्रिय बन, आध्यात्मिक सद्गुरु के पास जाकर, आत्मविद्या सीखने में तत्पर होने को कहती है । यदि हिन्दु शास्त्रों में श्रद्धा हो, और अविचल होकर अध्यात्म के मार्ग पर जाने का साहस हो, तो निरपेक्ष तथा अनंत आनंद निःशंक लभ्य है, क्योंकि वैसे तो हम पूर्ण ही हैं ।

अब प्रश्न है – यह पुस्तक आत्मा साक्षात्कार करने के अभियान में किस प्रकार मदद करेगी? यदि वैदिक तथ्यों को आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से दर्शाया जाय तो तर्कशील व्यक्ति इनका अधिक स्वागत करेंगे । प्रस्थान त्रयी में दृढतापूर्वक बताये गये अलौकिक कथनों में अपरिपक्व श्रद्धा रखनेवाले अब श्रद्धावान बनेंगे ।

वस्तुतः हमारे योगियों के लिये जगत एक प्रयोगशाला थी । उनकी अलौकिक के दर्शन करने की अद्भुत शक्ति से वेद प्रकट हुए । ये कोई एकाध व्यक्ति की रचना अथवा किसी कार्यवाहक मण्डल का निवेदन नहीं हैं। विज्ञान तथा वेद प्रकृति के रहस्य को यथारुप प्रकट करते हैं । विज्ञान ने सूक्ष्मता पर प्रभुत्व जमाया है, जैसे **Internet, Satellites, Space crafts, Atomic energy** आदि । योगियों ने आन्तरिक शक्ति द्वारा सूक्ष्मता को बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँचाया है । महर्षियों ने अलौकिक द्रष्टि प्राप्त कर इन सबके कर्ता, भर्ता व हर्ता के दर्शन करके प्रतिपादित किया है, कि वही, सर्वशक्तिमान, सभी प्राणियों के हृदय में पूर्ण रूप से बिराजता है ।

ध्यानपूर्वक अभ्यास करने से ज्ञात होगा कि विज्ञान के अनेक संशोधन वैदिक सिद्धान्तमाला (Theory) के अनुसार विकसित हुए हैं । श्री गोपालदास शाह (**A former Research Scholar at Syracuse University, Syracuse, NY, USA**) ने वेदान्तिक

तत्त्वज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत करने में खूब परिश्रम किया है। उन्होंने वेदान्तिक तत्वज्ञान को आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्तमाला **(Axiomatic Theory)** के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की संशोधन पद्धति गणित शास्त्र तथा भौतिक शास्त्र में प्रचलित है। उन्होंने **Mathematical logic** विषय महा–विद्यालय के तर्कशास्त्र विभाग के संशोधनकर्ता उम्मीदवारों को सिखाया था, जिसमें **Peano's Axioms** ने आदितत्त्वों का भाग अदा किया था। निवृत्ति के पश्चात् तुरन्त ही उन्होंने अपना ध्यान प्रस्थानत्रयी के अध्ययन व अभ्यास में लगाया।

वे पिछले बारह वर्षों से उत्तरकाशी (उत्तराखण्ड) ४ से ६ सप्ताह के लिये आते हैं और प्रस्थानत्रयी के जटिल प्रश्नों का हल ढूंढने में लगे रहते हैं। शेष समय वे स्वयं चिन्तन–मनन करते हैं। इस बीच उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों में गर्भरूप में छुपे हुए आदितत्त्वों को पहचाना, जिसके फलस्वरुप यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

मुझे आशा है कि विद्वत्गण उनकी इस कृति का भलीप्रकार स्वागत करेंगे, तथा अन्य सभी को हमारे शास्त्रों के प्रति अभिरुचि पैदा करने में प्रयत्नशील होंगे। क्योंकि यह कोई भेदी, अवास्तविक या धूंधले सूत्रों की जंजाल मात्र नहीं हैं।

प्रभु ! तुम्हारा ही,

स्वामी शर्वानन्द

प्राक्कथन

प्राचीन काल में हमारे महर्षिगण को ब्रह्म, परम पुरुषोत्तम, की कृपा से दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ था । इन महर्षियों ने अपने–अपने समाज बनाये, तथा यह ज्ञान योग्य वंशजों एवं अनुयायियों को अर्पित किया । इन महर्षियों ने कृपा करके अपने अथक परिश्रम द्वारा ब्रह्म के इस गूढ ज्ञान को वेदों के स्वरूप में प्रकाशित किया । तदुपरान्त इस सम्पूर्ण वेदों के ज्ञान को चार भागों में व्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध करके महर्षि वेदव्यास ने हमारे लिये अधिक सहज मार्ग प्रशस्त किया । आप श्री की कृति, ब्रह्मसूत्र, जिज्ञासुओं में प्रसरित वेदान्त के प्रति दिखाई देते विरोधाभास का समाधान कराती है, तथा इसके रहस्यमय तत्त्वों को सुस्पष्ट करती है । इस प्रकार ब्रह्म द्वारा अर्पित किये गये वेदों के गूढ, चिन्तनात्मक तथा प्रेरणादायक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल बना कर दीर्घ दृष्टियुक्त महर्षियों ने हमें मनोवांछित फल प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए हमारा मार्गदर्शन किया । वास्तव में वेदों के रचयिता तो ब्रह्म ही है; महर्षि मंत्र–दृष्टा हैं व्यास भगवान उनके संयोजक व संकलनकर्ता हैं । (भगी १५.१५) में भगवान कहते हैं, **''वेदान्तकृत वेदविदेव चाहम्''**, अर्थात मैं ही वेदान्तों का कर्ता तथा जानकार हूँ । (बृहद् २.६, ४.६, ६.५) में वेदिक गुरुओं की परम्परा का उल्लेख किया गया है, जिसमें ब्रह्म को केवल वेदान्त का ही नहीं, सर्व वेदों के कर्ता रूप में दर्शाया गया है ।

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः ।

ब्रह्म (रुद्र) आदि देवों को, ब्रह्मविद्या–संप्रदाय के प्रवर्तकों को, परम्परागत ऋषियों को नमस्कार; (वेद) विशारदों तथा (वेद के) गुरुओं को नमस्कार ।

अनेक विद्वानों की वेदान्त में संशोधन करने की महत्वाकांक्षा होती है। यदि वे कोई अन्य तत्व की खोज में हों, तो वे गैरमार्गगामी हैं, क्योंकि ऊपर बताये अनुसार ब्रह्म वेदान्त के रचयिता होने के कारण यह शास्त्र सम्पूर्ण व त्रुटिरहित है । वस्तुतः प्रत्येक भौतिक अनुसन्धान प्रकृति के अज्ञात रहस्यों को ही ज्ञात कराता है । अनेक महात्मा, आचार्यगण तथा विद्वानों ने अपनी–

अपनी दृष्टि के अनुरूप वेदान्त की व्याख्या करके उसके अगम्य सिद्धान्तों को समझाया है । हम यहाँ वेदान्त को आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्त–माला (Axiomatic theory – पारिभाषिक व्याख्या के लिये देखें १.१) के रूप में स्थापित करना चाहते हैं । इस प्रकार की आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्तमाला को आधुनिक वैज्ञानिक संशोधनों में महत्व का स्थान प्राप्त है । यहाँ इसी प्रकार के अनन्य शास्त्र के रूप में विकसित करने का लक्ष्य है । यह शास्त्र केवल चार आदितत्त्वों से विकसित किया गया है । इन चार आदितत्त्वों को हमने 'वेदान्त के मूल' नाम से आलोकित किया है । अब हम इन आदितत्त्वों, वेदान्त के मूलों, की संचरना का विहंगावलोकन करते हैं :

प्रथम आदितत्त्व निर्गुण ब्रह्म (सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं) तथा इसी का अक्षर ब्रह्म स्वरूप (सच्चिदानन्द), जो विचार करता है (छांदो ६.२.३) ''मैं अनेक बनूं, मैं जन्म लूं...'' का निरूपण करता है । शेष तीन आदितत्त्व (छांदो ६), जो सत्–विद्या के नाम से विख्यात है, में से चुने गये हैं । वैसे तो ये तीनों आदितत्त्व ही महर्षि वरुण, अपने पुत्र भृगु को जो उपदेश देते हैं, उसका अमूर्त (गहन) तथा व्यापक स्वरूप है : (तैत ३.१) ''जिसमें से ये सब जन्म लेते हैं, जन्म लेकर उसी के आश्रित ये सब जीते हैं, तथा जिसके सहारे ये सब प्रयाण करते (स्थित रहते) हैं तथा उसी में लय हो जाते है, उसे जानने की जिज्ञासा कर ।'' इसी प्रकार (छांदो ३.१४.१) कहा गया है: ''यह सर्व ब्रह्म है; यह सब उसमें से जन्म लेता है, (उसी में स्थित रहता है) तथा उसी में लय हो जाता है ।'' इसमें से गहन तथा व्यापक रूप में आदितत्त्वों की (अनौपचारिक) प्रस्तुति इस प्रकार की गई है : द्वितीय आदितत्त्व में अव्यक्त महाभूतों की उत्पत्ति के विषय में, तृतीय आदितत्त्व में व्यक्त महाभूतों की उत्पत्ति तथा चराचर जगत के विषय में, तथा चतुर्थ आदितत्त्व में चेतन तत्त्वों की गति तथा लय के विषय में बताया गया है (व्यवस्थित प्रस्तुति के लिये देखें १.६) । ये आदितत्त्व अक्षर ब्रह्म के तटस्थ लक्षण (प्रकृतिरुढ क्रियाशीलता) की महिमा का निर्देश करते हैं ।

वेदांन्त की रचना यदि किसी प्रापंचिक चेतनतत्त्व ने की होती, तो उसे प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ता, नवसर्जक तथा एक विचक्षण वैज्ञानिक होना चाहिये। तदुपरान्त उसे गणितशास्त्र का भी व्यापक ज्ञान होना चाहिये । ऐसे धुरन्धर

निपुण चिन्तक अत्यन्त सरल तथा व्यवहारिक निरीक्षण द्वारा ही अकल्पनीय सिद्धान्तों (अमूर्त तथा व्यापक स्वरूप में) की रचना कर देते हैं, जैसे न्यूटन ने सेव के गिरने, तथा आइन्स्टाइन ने वाष्पगाडी के गमनागमन की सापेक्षता के निरीक्षण द्वारा अपने सिद्धान्त स्थापित किये । उनके इन निरीक्षणों के फल स्वरूप समस्त विश्व में रहन–सहन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । हम यहाँ ये स्थापित करने का प्रयास कर रहे है कि वेदान्त के गूढ सिद्धान्तों का आविष्कार भी इसी प्रकार हुआ है : देखो ''हमारा आनुवांशिक'' (मुख पृष्ठ के पीछे); (छांदो ६.१.४) कहता है, कि मिट्टी के पात्र मिट्टी ही हैं; मिट्टी के पात्रों की सापेक्षता में मिट्टी एक तथा अद्वितीय है । इसी निरीक्षण का अमूर्त तथा व्यापक स्वरूप (छांदो ६.२.१) इस प्रकार है : ''प्रारम्भ में यह सब मात्र सत् (ब्रह्म) ही था, एक तथा अद्वितीय ।'' (बृहद् ४.४.१९; कठ २.१.११) इसी सूत्र का अन्य शब्दों में निरूपण करते हैं : ''यहाँ किसी प्रकार की विविधता नहीं है ।'' विज्ञान की भाँति अनेक वैदिक सिद्धान्त भी रोजमर्रा के निरीक्षणों की ही उपज है (देखें : २.१) । इस सिद्धान्तमाला के विकास में अन्य चार प्राथमिक निरीक्षणों का उपयोग किया गया है (१.६)।

विज्ञान की सिद्धि का फल समस्त मानव जाति को प्राप्त होता है परन्तु आध्यात्मिक सिद्धि का बँटवारा नहीं किया जा सकता । यह लाक्षणिक (स्वाभावजन्य) विशेषता है : (केन १.३) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नें मनो नविद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् । संसिद्धि प्राप्त गुरू की व्यथा यह है कि ब्रह्म, इन्द्रियाँ तथा मन से परे होने के कारण ब्रह्मज्ञान सार्वजनिक नहीं किया जा सकता । मुमुक्षु को सिद्ध गुरू के पास जाकर कठिन तपश्चर्या करनी पडती है । स्वर्ग के राजा इन्द्र को प्रजापति जैसे समर्थ गुरू का मार्गदर्शन होते हुए भी १०१ वर्ष की घोर तपस्या के पश्चात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था (छांदो ८.७–८.१२) । अपरिपक्व आस्था वाले व्यक्ति को यह त्रुटि अनीश्वरवाद की ओर ले जाती है : चार्वाक सूत्र ''यावज्जीवेत्, सुखम् जीवेत् । ऋणं कृत्वा घृतं पिषेत् । भस्मिभूतस्य देहस्य। पुनागमॅनम् कुतः? जीवो तब तक सुख से जीओ, कर्ज लेकर भी घी पीवो । अग्निदाह के पश्चात् यह शरीर कहाँ मिलनेवाला है?'' इस धारणा से बचने का भी कोई उपाय है?

आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्तमाला आधुनिक वैज्ञानिक संशोधनों में महत्व का भाग अदा करती है । वेदान्त भी इसी पद्धति से विकसित किया गया था, यह हम यहाँ सिद्ध करने जा रहे हैं । अतः जो विज्ञान को मानते हैं, वे वेदान्त में अश्रद्धा कैसे रख सकते हैं ?

यों तो प्रत्येक जीव का ध्येय दुःख रहित, निरपेक्ष तथा अनन्त आनन्द प्राप्त करने का होता है, यह तो निर्गुण ब्रह्म ही दे सकता है । पर हमारे आदितत्त्व तथा निरीक्षण तो द्वैत का ही प्रतिनिधित्व करते हैं । तो क्या हम सगुण ब्रह्म (द्वैत) को चर्चा का विषय बना कर गलत मार्ग पर चल रहे हैं? श्रुति (छांदो ७.२४.१) (बृहद् ४.३.३०) बतलाती है कि **यह निर्गुण ब्राह्मी स्थिति निर्विकारी तथा अचल है जहाँ किसी प्रकार की क्रिया को अवकाश नहीं है। हमें वहाँ पहुँचने के लिये द्वैत का मार्ग लेना है । वेदांत द्वैत से प्रारम्भ करके अद्वैत (निर्गुण ब्रह्म) का साक्षात्कार कराता है** । हम सिद्ध करने जा रहे हैं कि वेदान्त की परम ध्येय के मार्ग की ओर ले जानेवाली (तथा अन्य आधिभौतिक, आधिदैविक फल दायक) विधियों तथा उपासनाओं के निरूपण में हमारे आदितत्त्व आधारभूत हैं ।

वेदान्त के वैज्ञानिक आयोजन के कारण हम गौरव के साथ कह सकते हैं कि शास्त्र के सिद्धान्त कोई शेखचल्ली वाली हँसी–मजाक नहीं है, तथा न ही ये यहाँ–वहाँ से इकट्ठे किये गये आदेश–निर्देशों का संग्रह है । यह भावग्राही, अर्थपूर्ण शास्त्र सुदृढ तथा संगीन तर्कशास्त्र के धागे से गुंथा हुआ है (ऐसा लगता है कि हिब्रु (यहूदी) तथा ख्रिस्ती शास्त्रों का उद्भवस्थान मोजीज को मिले दश आदेश, **Ten commandments**, हो सकते हैं । उनकी साईनाई पर्वत पर की गई गाढ आराधना के फल–स्वरुप ईश्वर ने उन्हें ये आदेश दिये थे ।) हमारे कर्म के सिद्धान्त, इहलोक–परलोक गमन–आगमन तथा मोक्ष के सिद्धान्त निर्विवाद हैं, क्योंकि यह शास्त्र विज्ञान के सुस्थापित आयोजनों के अनुसार ही निर्मित किया गया है ।

हमारे आयोजन में पूर्व कल्पित सिद्धान्तों द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों में परिवर्तन करना संभव नहीं है क्योंकि हमने वेदान्त के सूत्रों को ही शब्दशः प्रस्तुत किया है; एक भी सिद्धान्त नया रचा हुआ नहीं है ।

दीर्घ काल से विस्मृत इस शास्त्रीय आयोजन को यहाँ पुनः प्रज्ज्वलित किया जा रहा है । **क्या यह नहीं कहा जा सकता कि अर्वाचीन विज्ञान हमारे वेदान्त द्वारा प्रशस्त पुरानी लीक पर चल रहा है?**

उपरोक्त विचार–विनिमय से यदि असमंजस की स्थिति पैदा होती है तो सर्वप्रथम प्रकरण–१ की ओर ध्यान देना चाहिये । यहाँ विज्ञान तथा वेदान्त की आदितत्त्व युक्त सिद्धान्तमाला विस्तार से समझाई गई है, तथा उन दोनों के भेद की ओर ध्यान दिया गया है । यह भी समझाया गया है कि यह भेद क्यों अनिवार्य है । यहाँ निरीक्षण तथा वेदान्त के मूलों के तथ्य (व्याख्या) दिये गये हैं । प्रकरण–२ में निरीक्षण तथा वेदान्त के मूलों को विस्तार से समझाया गया है । ये वेदान्त–सार का दर्शन कराते हैं । आदितत्त्वों और निरीक्षणों की बहुतसी सामग्री सत्–विद्या (छांदो–६) में से मिली है, इसीलिये हमने इसे **वेदान्त शिरोमणी** का पद अर्पित किया है । सत्–विद्या के जो सिद्धान्त शेष रहते हैं, वे सब प्रकरण–३ में पूर्व प्रमेय, प्रमेय अथवा उपप्रमेय के रूप में दिये गये हैं । इस प्रकार इस प्रकरण में सत्–विद्या की सम्पूर्ण समीक्षा हो जाती है ।

यदि किसी ग्रंथ में अमुक तर्कशास्त्र अथवा विज्ञान के अनुरूप उल्लेख हों तो समस्त ग्रन्थ तार्किक या वैज्ञानिक दृष्टि से रचित नहीं कहा जा सकता। अतः हमें सिद्ध करना है कि आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्तमाला समस्त वेदान्त को समाविष्ट कर लेती है । हमारे ४–८ प्रकरणों में, क्रमशः छांदोग्योपनिषद् (छांदो ७–८), तैत्तिरीय उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद, मुण्डक उपनिषद तथा बृहदारण्यक उपनिषद में दिये गये परा विद्या के सिद्धान्त, वेदान्त के मूलों, पूर्व प्रमेयों, प्रमेयों तथा उपप्रमेयों पर आधारित हैं । इन उपनिषदों में दर्शायेगये सिद्धान्तों के प्रयोजन स्वरूप उपासनायें बतलाई गई हैं, जिनका फल आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सिद्धि है। यह समस्त चर्चा प्रस्थान–त्रय के शंकरभाष्य पर आधारित है ।

इस प्रबन्ध ग्रन्थ में पूज्य स्वामी श्री शर्वानन्दजी (आदिशंकर ब्रह्मविद्यापीठ, सोमाश्रम, उजेली, उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड–२४९१९३), जो मेरे वेदान्त गुरु हैं, का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है । वेदान्त को आदितत्त्वयुक्त सिद्धान्तों के (नियमों के) अनुसार प्रस्तुत करने का विचार तो बहुत समय से

चल रहा था, परन्तु इसके प्रस्तुतिकरण में जो गहराई आवश्यक है, उसके लिये पूज्य स्वामीजी की अन्तर्दृष्टि आवश्यक थी । (भगी १५–२०) ने इसे गुह्यतमं शास्त्रं कहा है । आपश्री ने इस लेखन को ध्यानपूर्वक पढकर चर्चा–विचारणा करने में अपना अमूल्य समय व सहयोग देकर प्रोत्साहन दिया है ।

इस लेख में सम्पूर्ण सावधानी रखने के उपरान्त भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो यह मेरी ही लापरवाही तथा अज्ञानता के कारण है । इस सम्बन्ध में आपके सूचन आवकार्य हैं ।

मेरे परम मित्र प्रा. राजेन्द्र जोषी **(Retd.) Department of Mathematics, Faculty of Science, M.S. University, Vadodara)** तथा श्री परमानन्द दोषी ने इसका प्रूफ पढते समय बहुत से परामर्श दिये थे। इस पुस्तक का टाइपिंग, मुद्रण, प्रकाशन तथा अन्य संलग्न जिम्मेदारी मेरे युवान मित्र श्री दीक्षित उपाध्याय ने संभाली है । इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मेरे परम मित्र डॉ. सीताराम अग्रवाल **(Retd. Prof. and Head, Department of Applied Mathematics, Faculty of Technology and Engineering, M.S .University, Vadodara)** ने किया है । इस कार्य के अन्तर्गत उन्होंने महत्वपूर्ण सूचन किये थे । इसकी गुजराती आवृत्ति भी उपलब्ध है । इन सभी को मेरा धन्यवाद ।

इस पुस्तक की अंग्रेजी आवृत्ति E-mail द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

गोपाल वी. शाह

वडोदरा की ओर से भगवद् स्मरण

हुं करुं हुं करुं एज अज्ञानता,

शकटनो भार जेम श्वान ताणे !

संक्षेपाक्षर

ऐत	ऐतीरेय उपनिषद्
ईशा	ईशावास्य उपनिषद्
कठ	कठोपनिषद्
केन	केनोपनिषद्
कौषी	कौषीटकी उपनिषद्
छांदो	छांदोग्य उपनिषद्
तैत्ति	तैत्तिरीय उपनिषद्
प्रश्न	प्रश्न उपनिषद्
ब्रसू	ब्रह्मसूत्र
बृहद्	बृहदारण्यक उपनिषद्
भगी	भगवद् गीता
मुंड	मुंडक उपनिषद्

अनुक्रमणिका

प्रकरण-१

वेदान्त के मूलों के विषय में

१.१	प्रारम्भिक:	....	०१
१.२	विज्ञान में आदितत्त्वयुक्त विकास:	....	०४
१.३	उलटा क्रम:	....	०८
१.४	वेदान्त के मूलों का निवास:	....	०९
१.५	प्रारम्भिक साधन-सामग्री:	....	११
१.६	वेदान्त के मूलों का निरुपण:	....	१२
१.७	उपयोगी व्याख्यायें:	....	१६
१.८	निवेदन-इस प्रस्तुति के संदर्भ में:	....	१७

प्रकरण-२

वैदिक मूलों का विश्लेषण

२.०	विषय प्रवेश:	....	१९
२.१	सत्य: निरीक्षण-१	....	१९
२.२	सृष्टि सर्जन: निरीक्षण-२	....	२२
२.३	शरीर के कारण रूप तत्त्व : निरीक्षण-३	....	२३
२.४	सुषप्ति अवस्था, निरीक्षण-४:	....	२५
२.५	अकेला (एकमात्र/एकाकी) : आदितत्त्व-१	....	२९
२.६	अव्यक्त (सूक्ष्म) सृष्टि, हिरण्यगर्भ : आदितत्त्व-२..		३६
२.७	व्याकृत सृष्टि: आदितत्त्व ३ :	....	३८
२.८	फलप्राप्ति : आदितत्त्व-४	....	४६

प्रकरण-३

वेदान्त - सैद्धान्तिक दृष्टि

३.१	प्रावेशिक :	....	५३
३.२	स्थूल तत्त्व :	....	५४
३.३	चेतनतत्त्व :	....	५६
३.४	सत्-विद्या एकनजर में :	....	६२

प्रकरण-४

वेदान्त के मूल - छांदोग्य में

४.१	प्रावेशिक :	....	६७
४.२	भूमा-विद्या	....	७१
४.३	नन्ही सी गुफा (दहरविद्या)	....	७४
४.४	उपसंहार	....	८१

प्रकरण-५

वेदान्त के मूल - तैत्तिरीय उपनिषद् में

५.१	प्रावेशिक :	....	८३
५.२	ब्रह्मानन्द वल्ली :	....	८३
५.३	भृगुवल्ली (भार्गवि विद्या)	....	८९

प्रकरण-६

वेदान्त के मूल - ऐतरेय उपनिषद् में

६.१	प्रावेशिक :	....	९३
६.२	ब्रह्म, सर्जनकर्ता :	....	९३
६.३	प्राणियों का निर्माण :	....	९६
६.४	प्रयोजन (Application)	....	९७

प्रकरण-७

वेदान्त के मूल - मुण्डक उपनिषद् में

७.१	प्रावेशिक :	....	९९
७.२	ब्रह्म, सर्जनकर्ता:	....	९९
७.३	अक्षर पुरुष :	....	१०१
७.४	प्रयोजन	....	१०२
७.५	उच्चतम की अभिलाषा :	....	१०४

प्रकरण-८

वेदान्त के मूल - बृहदारण्यक उपनिषद् में

८.१	प्रावेशिक :	....	१०७
८.२	आविर्भाव	....	१०८
८.३	भावात्मक मार्गदर्शन :	....	११४
८.४	शास्त्रार्थ-वाद विवाद-मुनिकांड :	....	१२७
८.५	स्नेहभरा उपदेश :	....	१३९

प्रकरण-१

वेदान्त के मूलों के विषय में

१.१ प्रारम्भिकः

हमारे पौराणिक महर्षियों ने अपनी अतीन्द्रिय ज्ञानशक्ति से परमपिता परमेश्वर के दिव्य तथा अगम्य आदेश प्राप्त किये थे। विद्वान् महर्षियों ने इन विविध आदेशों के समूह को निर्विवाद, संशयातीत तथा विरोधातीत शास्त्र का स्वरूप दिया। परमेश्वर की यह प्रसादी वेदों के नाम से प्रसिद्ध हुई। वेद, जो भारतीय संस्कृति तथा आध्यात्मिकता का मूल एवं एक मात्र स्रोत हैं, वे विश्व के प्राचीन ग्रन्थों में सबसे आगे है। वेद, स्थल, समय तथा परिस्थितियों से पर हैं, इनमें आदि प्रणेता ब्रह्म के मूल स्वभाव का ही परिवहन हो रहा है। उपनिषद् वेदों का ज्ञानकाण्ड है। उपनिषद् वेदों का (तार्किक दृष्टि से) अन्तिम भाग होने के कारण उनके समुदाय को वेदान्त कहा जाता है। इनके बहुत से सिद्धान्त अलौकिक हैं, अर्थात् वे न तो इन्द्रिगम्य (इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हो सकने वाले) हैं, न ही मनोगम्य (विचार द्वारा जाने जा सकने वाले)। (टीप ५.३ तैत्ति २.४; टीप ४.५ केन १.३) इस कारण इनके सिद्धान्तों को यथावत् स्वीकार करना चाहिये। वेद पूर्ण पुरुषोत्तम की अभिव्यक्ति है इस कारण (बृहद् ३.९.२६) में कहा गया है किः ''परमेश्वर की प्रतीति कराने के लिये एक मात्र साधन उपनिषद् ही हैं''; अतः इनमें व्याख्या किये गये सिद्धान्तों को ही प्रमाणित मानकर इस अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति हेतु अन्य भौतिक एवं असंगत तर्क-वितर्को से दूर रहना ही उचित है। यमराज ने नचिकेता को यही उपदेश दिया है (कठ १.२.९)[१]। इसी प्रकार (टीप ७.२ मुंडक ३.२.३) में भी कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वेदान्त तर्क का बहिष्कार करता है। वेदान्त समर्पित तर्क स्वागत योग्य है।

हमें वेदान्त के सिद्धान्तों के समूह में से कुछ ऐसे गिने-चुने सिद्धान्तों के उपसमूह को खोजना है, जिनकी मदद से अन्य सभी सिद्धान्तों को साबित

१. (कठ १.२.९)
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।

किया जा सके। अर्थात् यह जाना जा सके कि समस्त वेदान्त इन्हीं के (उपसमूह के सिद्धान्तों) द्वारा ही प्राप्त हुआ है, जैसे एक छोटी सी कली में से महकता हुआ फूल खिल उठता है। इस उपसमूह को हम **वेदान्त के मूल** नाम से सम्बोधित करेंगे। इस उपसमूह के प्रत्येक सिद्धान्त को आदितत्त्व कहा जायेगा। अब हमें वेदान्त के इन मूलों की खोज करनी है।

व्याख्याः आदितत्त्वः स्वयंसिद्ध माने जाने वाले सिद्धान्त को आदितत्त्व कहा जायेगा।

यदि आदितत्त्व को सिद्ध करने का प्रश्न उठाया जाता है, तो इसका अर्थ है, कि इसका समर्थन करनेवाले तत्त्वों को भी साबित करना आवश्यक होगा। इस प्रकार तो यह चक्र अन्तहीन चलता रहेगा। (अतः कहीं न कहीं रुक कर किसी न किसी सिद्धान्त को स्वयं सिद्ध मानना ही पडेगा)। आधुनिक विज्ञान में भी जो संशोधन होते हैं, उनमें भी इसी प्रकार के आदितत्त्वों के एक छोटे समूह के आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल कर वैज्ञानिक संशोधन करते हैं । यह आदितत्त्वों का समूह अनुभव, तर्क अथवा व्यवहार संगत न भी जान पडे, तो भी इसके फल स्वरूप प्राप्त हुआ आदितत्त्वयुक्त शास्त्र (**Theory based on axioms, or Axiomatic theory**) अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। यह हम आगे यहाँ भी देखेंगे।

व्याख्याः आदितत्त्वयुक्त शास्त्रः आदितत्त्व के समूह की मदद से उत्पन्न शास्त्र।

यह नवनिर्मित शास्त्र आदितत्त्वयुक्त शास्त्र कहलाने योग्य तभी होगा, जब यह मूल स्थापित सिद्धान्तों को, जिनका यहाँ विस्तार किया गया है, यथावत् बनाये रखे व उनमें कोई प्रकार की विकृती पैदा न करे । तदुपरान्त इसके द्वारा व्यवहारिक वास्तविकताओं (हकीकतों) तथा विज्ञान अथवा प्रकृति की वास्तविकताओं का विरोध न होता हो । इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि इसके द्वारा नये सिद्धान्त स्थापित हों, अथवा पूर्वसुस्थापित सिद्धान्त अधिक व्यापक बनें । इससे जो आदितत्त्वों का समूह है, वह भी प्रामाणिक व अधिकृत कहा जाने योग्य होगा। यदि इस प्रकार का प्रमाणभूत शास्त्र सर्जित न हो, तो आदितत्त्वों का समूह भी अनधिकृत ही माना जायेगा।

हम वेदान्त की आदितत्त्वयुक्त शास्त्र के रुप में व्याख्या करने जा रहे हैं। इस सैद्धान्तिक विकास में तर्क का विशेष स्थान होने के कारण चुस्त अध्यात्मवादी इस भौतिकवाद इसे समझ कर इसका समर्थन करने में संकोच कर सकते हैं, किन्तु वेदान्त का समर्थन करने वाले तर्क योग्य एवं आवकार्य हैं। हम यह सिद्ध करेंगे कि हमारी प्रस्तुति, वेदान्त के सभी तत्त्वों का समर्थन करती है। अतः यह प्रस्ताव सर्वमान्य कहा जा सकेगा। तदुपरान्त हमें इस प्रस्ताव से यों भी गौरव अनुभव होगा, कि हमारा अध्यात्मवाद (कुछ सिद्धान्तों के आधार पर स्थिर है), केवल कुछ अन्धश्रद्धालु लोगों के मन की उपज अथवा सनकी नहीं है। इससे यह शास्त्र वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर आधारित प्रतीत होगा। केवल श्रद्धायुक्त अध्यात्मवाद नास्तिक पैदा करने का यन्त्र मात्र है। जो इस शास्त्र को वैज्ञानिक द्रष्टि प्रदान कर सके, **हम ऐसे वेदान्त के मूलों की खोज में हैं।**

हमारे पौराणिक योगियों ने भौतिक तथा मानसिक तत्त्वों पर प्रभुत्व प्राप्त करके अपने सूक्ष्म अवलोकन तथा अनुभव के द्वारा सर्वसामान्य से दिखाई देते तत्त्वों का सामान्यीकरण किया तथा इनमें आनेवाली अनेक क्षतियों से सम्बन्धित परिवर्तन किये जा सकने की क्षमता का भी समावेश किया । क्योंकि, चाहे प्रकृति हो अथवा मानव–वृत्ति, कोई भी हमेशा एक ही प्रकार के नियमों के अनुरूप व्यवहार नहीं कर सकती। वेदों की इस विशिष्टता के कारण ही उनकी मर्यादा बनाये रखते हुए अनेक सम्प्रदायों का उद्‌भव हुआ, जिसमें भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजकीय तथा सामाजिक विविधताओं ने महत्त्वपूर्ण भाग निभाया। इस प्रकार **एकता में विविधता** दर्शाता यह वैदिक तत्त्वज्ञान हमारी संस्कृति एवं धार्मिक मान्यताओं का जन्मदाता है। वैदिक सिद्धान्तों की सर्वसामान्यता में रबर जैसा लचीलापन होने के कारण प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी मान्यताओं में अड़िग रहते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के साथ सरलता से जुड़ा रहता है। हमारे विविध संप्रदायों में घर्षण अथवा विषमताओं को कोई स्थान नहीं है। एक ही कुटुम्ब के एक ही घर में साथ रहनेवाले व्यक्ति भिन्न सम्प्रदायों को मानते हों, यह हमारी संस्कृति के लिये कोई नई (विचित्र) बात नहीं हैं। उन्हें आपसी सूझ – समझ तथा चर्चा – विचारणा द्वारा मिलजुल कर रहने में जरा भी परेशानी नहीं होती। यह **विविधता में एकता**

प्रदान करती वैदिक संस्कृति का अनूठापन है। **हम ऐसे ही नम्य शास्त्र के मूलों की खोज में हैं।**

वेदान्त एक विशाल तथा भव्य वृक्ष है। यह एक अद्वितीय ज्ञान–तत्त्व रूपी तने पर स्थिर है। इसकी अनेक शाखायें अनेक वेदिक संप्रदायों की प्रतीक हैं। कर्म, भक्ति तथा ज्ञान इसका खाद तथा भोजन है, इसी से यह वृक्ष पुष्ट है। इसके फल रूप में सुहावना स्वर्ग अथवा अमरत्व प्रदान करता मधुर मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा यह अनादि व अनन्य वृक्ष मूल के बिना कैसे रह सकता है! **हम इस भव्य वृक्ष के मूलों की खोज में हैं।**

वेदान्त, सुदृढ, सुसज्जित तथा सुस्पष्ट सिद्धान्तों, आदेशों तथा निषेधों को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है। ये इधर–उधर से इकट्ठे किये हुए निरर्थक विचार नहीं हैं। ऐसा चिन्तनात्मक शास्त्र रोजाना के अमूल्य अनुभवों तथा सूक्ष्मतम निरीक्षणों से गठित होता है। इस प्रकार के शास्त्र के मूल में प्रारम्भिक आदितत्त्वों का समूह, जो गहरे चिन्तन व समृद्ध दृष्टिबिन्दु से गढे गये हों, ही हो सकता है। **हम इस प्रारम्भिक आदितत्त्वों के समूह, जो वेदान्त के गर्भ में मूलों के रूप में छुपे हुए हैं, की ही खोज कर रहे हैं।**

१.२ विज्ञान में आदितत्त्वयुक्त विकासः

विज्ञान में, विशेषरूप से भौतिक शास्त्र तथा गणित शास्त्र के संशोधनों में, आदितत्त्वों की मदद से विकसित हुए शास्त्र ने महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। इसी सन्दर्भ में अनेक प्रकार के संशोधन हो रहे हैं। तीक्ष्ण बुद्धि तथा अथक परिश्रम के संयोग से मूलभूत सिद्धान्त (आदितत्त्व) अनुमानित किये जाते हैं। ये इन्द्रियगम्य अथवा तर्कगम्य न भी हो सकते हैं। किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है, इनसे एक सर्वमान्य शास्त्र की रचना की जा सकती है। इसके परिणाम प्रत्यक्ष तथा अनुभवसिद्ध होने से आदितत्त्वों की गहनता के विषय में कोई संशय या कुतुहल होने की सम्भावना नहीं रहती है। इस दिशा में एक प्रचलित उदाहरण का अवलोकन करें : दूरसंचार के द्वारा दुनिया के किसी भी कोने में रहते हुए व्यक्ति से बात की जा सकती है। यह हमारी आवाज को ग्रहण करके उसे मूल रूप में प्रेषित कर देता है। किन्तु यह एक विशेष यन्त्र द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार आवाज को ग्रहण करके उसको वैसे

की वैसे ही पुनः प्रेषित कर देना, तथा यह कार्य एक निश्चित यन्त्र से ही किया जा सकना – यह सब किन सिद्धान्तों की करामात है – क्या इसकी विस्तृत जानकारी प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं?

टैलीफोन का संशोधन सार्वजनिक उपयोग के लिये हुआ। वेदान्त के तत्त्वों का फल केवल तत्त्वज्ञों को ही उपलब्ध है। इसे सार्वजनिक किया जाना संभव नहीं है। एक मोक्ष का अधिकारी व्यक्ति सभी को मोक्ष प्राप्त नहीं करवा सकता, केवल जिज्ञासु को उपदेश दे सकता है। तदुपरान्त इस मार्ग पर तो कोई विरला ही अग्रसर हो सकता है। इससे अश्रद्धा जन्म लेती है (अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा का अभाव होता है) तथा यह नास्तिकता को जन्म देती है। (नास्तिकता की खुराक बन सकती है) विरोचन तथा इन्द्र, दोनों ब्रह्मज्ञान प्राप्ति हेतु प्रजापति के आश्रम में रहे। विरोचन उपदेश का सच्चा मर्म समझे बिना ही वापस गया, तथा १०१ वर्ष की तपस्या के बाद इन्द्र ब्रह्मज्ञानी बना (४.४ छांदो ८.४–८.१२)। यदि वेदांत के सिद्धान्तों को विज्ञान के दृष्टिकोण से समझा जाय, तो जो विज्ञान को मान्यता देते हैं, वे वेदान्त को भी अवश्य मान्यता देंगें। **हम ऐसे ही वेदान्त के मूलों की खोज कर रहे हैं।**

वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मता में छुपे हुए प्रचण्ड सामर्थ्य को ठीक प्रकार से जाना है। उन्होंने अणु–परमाणु तथा ऊर्जा (energy) की व्यापकता का अभ्यास भलीप्रकार किया है। इसके अतिरिक्त वे दिमागी कोषों (brain cells) की विशिष्टता जानने का भी प्रयास कर रहे हैं। परन्तु ये तत्त्व भौतिक दृष्टि से सूक्ष्म हैं, अतः इनके ज्ञान से भौतिक समृद्धि, सुख व साधनों में ही वृद्धि हो रही है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की सूक्ष्मता तो इन सबसे परे है। वेदान्त इस सूक्ष्मता की व्याख्या करके आत्मा व परमात्मा की एकता समझाकर प्रपञ्च (माया की रचना) से दूर ले जाता है। इस विचार विनिमय में वैज्ञानिकों के योगदान का मूल्यांकन करने में कमी नहीं रखनी चाहिये (अर्थात् वैज्ञानिकों द्वारा किये जाने वाले प्रयासों की अवगणना न होनी चाहिये)। वैज्ञानिक मानव जाति की प्रगति के लिये जो अनन्य भोग दे रहे हैं, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। वे जिस प्रकार के ऊँच नीच के झटके झेलते हैं, उनका खयाल हमें देव–अणु (God Particle) के संशोधन में आये अवरोधों (Obstacles) से आ सकता है।

पीटर हीग्स ने सन् १९६४ में परमाणु के लिये ऐसे आदितत्त्व प्रस्तुत किये, कि जिनके ज्ञान से विश्व के गूढ रहस्यों का मर्म समझा जा सकता है। इस गुण को दृष्टिगत रखते हुए अन्य संशोधकों ने इन्हें देव–अणु कहना प्रारम्भ किया। पीटर अनीश्वरवादी (Atheist) थे, अतः उन्हें इस नाम से अप्रसन्नता हुई। इसके पश्चात् बहुत लंबी मंजिल पार करने के पश्चात् सन् २०१३ में उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये आदितत्त्वों को केवल औपचारिक मान्यता प्राप्त हुई। तो भी लेड़रमैन नामक प्रख्यात परमाणुशास्त्री ने इन्हें मान्यता न देकर व्यंगात्मक रूप में इस प्रकार इनका मजाक उड़ाया – (Ref. Search Google for 'God Particle') – **"Laderman explains his choice with a view of the long human search for knowledge, using an analogy between the impact of the Higgs field on the fundamental symmetries at the big bang, and the apparent chaos of structures, particles, forces and interactions that resulted and shaped our present universe, with the biblicle story of BABEL in which the primordial single language of early GENESIS was fragmented into many disperate languages and cultures. Laderman whimsically asks whether the Higgs-boson was added just to perplex and confound those seeking knowledge of the universe, and whether physicists will be confounded by it as recounted in that story, or ultimately surmount the challenge and understand 'how beautiful is the universe (God has) made'"**.

वैसे तो इन आदितत्त्वों की सर्वप्रथम प्रस्तुति श्री जगदीशचन्द्र बोस के द्वारा की गई थी। वैज्ञानिकों ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, परन्तु आइन्स्टाईन ने इनसे प्रभावित होकर इन्हें प्रोत्साहित किया था। प्रारम्भ में इसे "हिग्स–बोसोन अणु (Higgs-Boson Particle)" नाम दिया गया था, किन्तु आगे जाकर नाम में से बोसोन (Boson) अदृश्य हो गया तथा अब इसे हिग्स (Higgs Particle) अणु कहा जाता है।

इस वस्तुस्थिति से यह आभास होता है कि वैज्ञानिक वैदिक सूक्ष्मता

को समझने के लिये (भौतिक साधनों के उपयोग द्वारा) कितने धैर्यपूर्वक जीवनभर भगीरथ प्रयत्न करते रहे हैं! इस प्रकार के नये–नये प्रयोग अनेक संशोधक कर रहे हैं। इस विषय में क्या आप को भी लेड़रमैन की भाँति ही इनकी सफलता पर संदेह है! परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि यदि इसमें वैज्ञानिकों को सफलता प्राप्त होती है, **तो विज्ञान के परिणाम सभी जगह पर समान रूपसे लागू होने के कारण संसार के सभी व्यक्ति एक साथ मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं! (यह संभव है या नहीं, यह तय करना हमारा विषय नहीं है) हमें तो वैदिक मार्ग की ओर ही अग्रसर होना है।** वैज्ञानिक (कठ १.२.१०) में विश्वास नहीं करते: ''न ह्यध्रुवैः प्राम्यते हि ध्रुवं तत्'' (अनित्य साधनों से नित्य (आत्म तत्व) को प्राप्त नहीं किया जा सकता है)। इसके साथ–साथ यह भी प्रार्थना करते रहना है कि वैज्ञानिकों को भी उनके प्रयासों में सफलता प्राप्त हो।

ऊपर के सन्दर्भ में जो असफलतायें दिखाई देती हैं, उनसे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हमारे वैज्ञानिकों ने अपने सामान्य से अवलोकनों द्वारा अनेक दुर्लभ सिद्धान्तों को रचा है तथा कई क्षेत्रों में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। जैसे आज आवागमन (Transportation), इन्टरनैट (Internet), सैलफोन (Cell Phones), प्रवासी विज्ञानशाखायें (Home Schools) आदि जो सुविधायें हम भोग रहे हैं, ये सब इन्हीं की देन है। इससे पूर्व हमारे पूर्वजों को इनमें से कोई भी सुविधा प्राप्त नहीं थी ।

न्यूटन को सेव को गिरते देखने से जो कौतूहल हुआ उसके फलस्वरूप तथा अन्य वैज्ञानिकों के इसी प्रकार के कौतूहल के फलस्वरूप आज हमें जो आगगाडी, मोटर, ट्रक व अन्य यन्त्रों की सुविधायें प्राप्त हैं, उनसे सम्पूर्ण विश्व में लोगों के रहन–सहन में अकल्पनीय परिवर्तन हुआ है। अब इन साधनों के सामने घोड़े, ऊँट आदि से यात्रा करना तो हास्यास्पद सा ही लगेगा। आइन्स्टाइन के सापेक्षता व परिमाण सिद्धान्तों (Relativity and Quantum theories) से बड़ी से बड़ी (खगोल के पदार्थों) तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म (अणु–परमाणु) वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त उपकारक सिद्ध हुआ है। फिर भी ऐसे मूलभूत संशोधन भी हिरण्यगर्भ के क्षेत्र से बाहर नहीं जाते (अर्थात् भौतिक सीमाओं में ही रहते हैं)। ब्रह्म तो हिरण्यगर्भ की मर्यादा से भी

बाहर है (टीप ५.३ तैत्ति २.४)। वहाँ तक पहुँचने के लिये वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के जो सिद्धान्त विज्ञान के क्षेत्र में हैं, उन सबका विज्ञान समर्थन करता हैं। कितनी ही बाबतों में वेदान्त के सिद्धान्त विज्ञान के क्षेत्र से बाहर हैं। वैज्ञानिक गहन मनोमंथन के पश्चात् इन्द्रियगम्य परिणाम ही प्राप्त कर पाते हैं, इसके विपरीत वेदान्त–ज्ञान का फल 'ब्रह्म प्राप्ति' है, जो अतीन्द्रिय है।

महर्षिगण अपनी अतीन्द्रिय शक्ति से वेदान्त में तीन प्रकार की सृष्टि का अस्तित्व बतलाते हैं: जिसके अनुसार स्थूल सृष्टि को पूर्णरूप से आवरित करती सूक्ष्म सृष्टि (भौतिक सूक्ष्मता नहीं), तथा सूक्ष्म सृष्टि को संपूर्ण रूप से आवरित करती कारण (बीज) सृष्टि का वर्णन किया जाता है। (यहाँ ये तीनों सृष्टि एकदम अलग–अलग नहीं है, किन्तु जिस सृष्टि की बात होती है उसकी प्रचुरता होती है)। इन सबको अपने भीतर समाये हुए तथा इन सबसे परे जो तत्त्व है, वह एक एवं अद्वितीय है, वह ब्रह्म है। वेदान्त इस परम पुरुषोत्तम का दर्शन कराता हैं। यह हमारे महर्षियों की अंतर्दृष्टि का चरम बिन्दु है। इनकी समानता रेखा में अन्य किसी तत्त्वज्ञान का अस्तित्त्व नहीं है। यह ऐसा अध्यात्म शास्त्र है, जो व्यवहार तथा विज्ञान, दोनों को न्याय देकर इन्द्रियातीत सृष्टि का रसपान कराता है। आगामी प्रकरणों में हम इस संबन्ध में विस्तृत विचार करेंगे।

१.३ उलटा क्रमः

सैद्धान्तिक वैज्ञानिक गहरे अभ्यास तथा अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से प्रपंच के सूक्ष्म तत्त्वों को स्थापित करने के लिये आदितत्त्वों के आधार पर अनुमानित परिणाम को सिद्ध करने में अपनी कार्यशक्ति को लगाते हैं।

इटालियन गणितज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता पीआनो (PEANO–१८५८–१९३२) ने उलटी दिशा में अग्रसर होते हुए गणित शास्त्र के मूलों को उजागर किया। वैसे तो यह शास्त्र काफी पुराना है पर लगभग १०० वर्ष पूर्व ही पीआनों ने साबित किया कि इस सम्पूर्ण गणित शास्त्र की नींव केवल पाँच आदितत्त्वों पर आधारित है। गणित शास्त्र के इन मूलों को पीआनो के आदितत्त्व (Peano's Axioms) कहा जाता हैं। इस प्रकार प्रस्तुत किये गये गूढतत्त्व ज्ञान का सन्मान करते हुए अनेक शिक्षा क्रमों में इसे एक विषय के

रूप में सिखाया जाता है। गणित की सुव्यवस्थित तथा निर्विवाद तर्कशैली विज्ञान के क्षेत्र में विद्वानों तथा प्रखर तत्त्वज्ञानियों का भी ध्यान आकर्षित करती ।

इस लेख में हम भी ठीक इसी प्रकार उलटे क्रम में अग्रसर होंगे। हमें गूढ़ सिद्धान्तों से समृद्ध इस सनातन वेदान्त शास्त्र रूपी महान वटवृक्ष के मूलों की खोज करनी है। यह कार्य इतना कठिन नहीं है, क्योंकि छांन्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में महर्षि उद्दालक ने इस विषयक महत्त्व की सामग्री प्रस्तुत की है। इसमें छिपे हुए वेदान्त के आदितत्त्वों को ढूँढ कर, जैसे हीरों पर पालिश करनेवाला कारीगर हीरों को चमका देता है, वैसे ही हमें उन आदितत्त्वों की उपयोगिता को प्रकाश में लाना है। यथार्थ में तो हम इस की सुमधुर तथा प्रेरणादायक प्रसादी को विज्ञान की अनुशासित कठिन शैली में परिवर्तित करने का ही प्रयास कर रहे हैं। अतः विज्ञान के आदितत्त्वोंयुक्त सिद्धान्तों (Axiomatic Theory) को स्वीकार करनेवाले वेदान्त के इस स्वरूप को भी अवश्य स्वीकार करेंगे। यह जो सर्व का कर्ता, भर्ता व हर्ता है, उसका अस्तित्त्व क्यों न स्वीकारें?

१.४ वेदान्त के मूलों का निवासः

वेदान्त के गूढतम तत्त्वों में जो सर्वोपरि हैं उनका दर्शन एक गौरवशाली युवक को सन्मार्ग की ओर ले जाने लिये उसके पिता द्वारा दी गई शिक्षा में मिलता है। यह विद्या छान्दोग्य उपनिषद् के प्रकरण–६, जो सत्–विद्या कहलाता है, में दी गई है। इसमें वेदांत के मूल अत्यन्त गहराई में छिपे हुए हैं। यही उनका निवास है। **वेदान्त अत्यन्त पुरातन शास्त्र होने के कारण यह कहा जा सकता है कि आदितत्त्वयुक्त शास्त्रों में प्रथम वेदान्त को ही माना जाना चाहिये।**

महर्षि अरुण के पौत्र, तथा महर्षि उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्ष तक वेदाभ्यास करके घर वापस आते हैं। उनके पिता ने अनुभव किया कि पुत्र में यौवन के अनुरूप ही वेदाभ्यास के अध्ययन के अहंकार के साथ थोडा छिछोरापन भी आ गया है। वेदों के अध्ययन के अभिमान को दूर करने तथा यौवन के छिछोरे जोश का शमन करने हेतु उससे पिताश्री प्रश्न करते हैंः

(छांदो ६.१.३)[२] हे पुत्र! तुमको ऐसे तत्त्व का ज्ञान तो अवश्य होगा कि ''जिसके जानने से न सुनी हुई बात सुनी हुई जैसी लगती है; न विचारी हुई वस्तु विचारी हुई जैसी लगे, तथा न जानी हुई बात जानी हुई जैसी लगे।'' यह प्रश्न सुनते ही श्वेतकेतु का अहं एकदम कम हो गया तथा उसने अपने पिताजी से प्रार्थना की, कि कृपया आप ही मुझे उस तत्त्व का ज्ञान कराइये।

महर्षि उद्दालक उपदेश का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं: (टीप १.६ छांदो ६.२.१) ''प्रारम्भ में यह सब सत् ही था, एक तथा अद्वितीय।'' पुनः उन्होंने कहाः ''यदि कोई ऐसा कहे कि प्रारम्भ में यह सब असत् (शून्यावकाश) था तथा उसमें से सत् पैदा हुआ।'' तदुपरान्त में महर्षि प्रश्न करते हैं: – ''असत् में से सत् पैदा हुआ, यह किस आधार पर कहते हो?'' इस प्रकार महर्षि अपने वक्तव्य का समर्थन न करते हुए दूसरे के पास समर्थन मांगते हैं। कहीं वे ऐसा तो नहीं कहते – कि आप सिद्ध नहीं कर सकते, इसलिये मेरा कथन सत्य हैं? वास्तव में यह भ्रमित करनेवाला अथवा दुराग्रह युक्त उत्तर नहीं है, क्योंकि उनके कथन को हम आदितत्त्व के रूप में प्रस्तुत करेंगे, तथा इसके द्वारा हमें वेदान्त के उत्कृष्ट सिद्धान्तों को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान मिलेगा।

अति गहन, रहस्यमय तथा तत्त्वज्ञान से युक्त कथनों को प्रकट करने की प्राचीन कला अद्‌भुत है; इसकी शैली अत्यन्त सरल (सरलता से ही प्रकट की जा सकनेवाली), मार्मिक एवं आनन्द–उल्लास देनेवाली है। विज्ञान जैसा कठोर नियन्त्रण इसमें कहीं नहीं है। परन्तु विज्ञान के नियन्त्रण में एक बड़ा लाभ है; इसके कथन एकार्थी (अनन्य–अविकल्पनीय) होते हैं, इनमें वाद–विवाद को कोई स्थान नहीं है। वेदान्त के कथनों में पर्यायवाची हो सकते हैं। तो क्या इसका तात्पर्य है कि वेदान्त को विज्ञान का अनुसरण करना चाहिये? कदापि नहीं! वेदान्त का विषय ही भिन्न है। हम पहले देख चुके हैं, कि यह आवश्यक है कि वेदान्त प्रकृति की अनियमितता तथा मन की चंचलता को अपने भीतर समा सके, इसलिये पर्यायवाची होते है, इनसे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।

---

२. (छांदो ६.१.३)

येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।

उत्कण्ठा शमन करने हेतु, पिताश्री महर्षि उद्दालक ने जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर हम यहाँ देंगे। वह तत्त्व है – सत्, अर्थात् ब्रह्म। ब्रह्म को जानने से ऊपर के तीनों प्रश्नों का समाधान होता है। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा। अक्षर ब्रह्मका स्वरूप लक्षण सत्, चित्, आनंद है । छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रकरण में 'सत्' गुण लक्षी ब्रह्म की विस्तृत चर्चा की गई है, अतः उस प्रकरण को सत्–विद्या कहा जाता है।

यदि भगवान आकर आपको कहें कि तुम्हारी कोई भी एक इच्छा पूरी की जायेगी, तो कहो, आप क्या माँगोगे? सभी की (प्राणीमात्रकी) अभिलाषा होती है 'लेश मात्र भी दुःख रहित अनन्त व निरपेक्ष आनन्द!' सत्–विद्या का लक्ष्य यही है। यह साबित करती है: ''तत्त्वमसि'' (छांदो ६.८.७)। इसका अर्थ है – 'वही तुम (तुम्हारा आत्मा) हो'; आत्मा को जानने से आपकी महदेच्छा पूर्ण होगी। (टीप ७.५ मुंड ३.२.१) इस प्रकार इसका समर्थन करता है – ''ब्रह्म को जान लेनेवाला स्वयं ब्रह्म बन जाता है; उसके दुःख व पापों का निवारण होता है।'' (टीप ५.२ तैत्ति २.१) में भी इसी प्रकार कहा गया हैं; ''ब्रह्मज्ञानी सर्वोत्तम को प्राप्त करता है।''

अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का आयोजन हम इस प्रकार करेंगे: बहुत से आदितत्त्व तो सत्–विद्या में ही समाये हुए हैं। इन आदितत्त्वों का समूह ही वेदान्त के मूल हैं। ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से ज्ञात होता कि कितने ही आदितत्त्व तो रोजाना की सामान्य बाबतों का एक विस्तृत रूप हैं। कुछ अन्य आदितत्त्व गहन चिन्तन द्वारा गढे हुए हैं। यह सब प्रकरण–२ का विषय रहेगा। प्रकरण–३ में सत् विद्या के अन्य सिद्धान्त आदितत्त्वों की मदद से साबित किये जायेंगे। आगामी प्रकरणों में हम देखेंगे कि वेदान्त के सभी सिद्धान्त इन वेदान्त के मूलों द्वारा ही साबित किये जा सकते हैं। इससे सिद्ध होगा कि आदि–तत्त्वयुक्त सिद्धान्त–माला का प्रथम प्रणेता वेदान्त है। सर्व प्रथम हम इसकी भूमिका प्रस्तुत करते हैं –

१.५ प्रारम्भिक साधन-सामग्रीः

प्रत्येक शास्त्र, जैसे कि विज्ञान, अर्थशास्त्र, कानूनशास्त्र आदि में अपनी स्वयं की विशिष्ट परिभाषा होती है। वेदान्त की प्राथमिक परिभाषा मेरी पूर्व पुस्तक (वैदिक धर्मों का उद्‌विकास एवं वैविध्य; संपर्कः श्री अग्रवाल–

९८२५३३४४६७) में दी गयी है। प्रस्तुत विषय की दृष्टि से जिस परिभाषा का उपयोग यहाँ किया गया है, वह यहाँ दी जायेगी।

१. निरीक्षण (Observation): जो तथ्य व्यवहारिक ज्ञान एवं अनुभव सिद्ध अथवा अन्य प्रमाणित साधन–जैसे कि विज्ञान, स्वास्थ्य शास्त्र, यन्त्र शास्त्र आदि से सिद्ध किये गये हों उन्हें हम निरीक्षण कहेंगे।

उदाहरण स्वरूप न्यूटन का (वृक्ष से सेब गिरने) का तथा आइन्स्टाइन का आगगाडी के हलन–चलन की सापेक्षता का निरीक्षण–इन निरीक्षणों ने विश्व में रहन–सहन क्षेत्र में अत्यधिक उलटफेर किया है। हम (२.१) में देखेंगे कि मिट्टी के निरीक्षण से ब्रह्म के लक्षणों को उभारा गया है। कर्म का सिद्धान्त भी सामान्य निरीक्षण द्वारा ही प्रकट हुआ है।

२. पूर्वप्रमेय: जो सिद्धांत आदितत्त्व अथवा निरीक्षण से साबित किया जा सकता हो उसे पूर्वप्रमेय कहेंगे। पूर्वप्रमेय, प्रधान प्रमेय के लिए प्रारंभिक जानकारी प्रदान करता है।

३. प्रमेय (Theorm): जो सिद्धान्त पूर्वप्रमेय, आदितत्त्वों अथवा निरीक्षण से साबित किया जा सकता हो, उसे प्रमेय कहते हैं। पूर्व साबित किये गये प्रमेय अथवा उपप्रमेय का उपयोग प्रस्तुत प्रमेय को साबित करने में किया जा सकता है।

४. उपप्रमेय (Corollary): पूर्वप्रमेय, आदितत्त्व निरीक्षण आदि के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्ष को उपप्रमेय कहा जायेगा।

१.६ वेदान्त के मूलों का निरूपण :

वेदान्त के मूल चार आदितत्त्वों से सुसज्जित हैं। पाँच सहायक निरीक्षण भी प्रस्तुत किये गये है। यहाँ केवल उनका उल्लेख किया जा रहा है। उनका विस्तृत विवेचन प्रकरण–२ में किया जायेगा।

निरीक्षण–१: सत्य: (छांदो ६.१.४–६)[३] (मिट्टी का) घड़ा, (सोने का) कुण्ड़ल अथवा लोहे की छड़ी – ये क्रमशः अपने मूलतत्त्व मिट्टी, सोना

३. (छांदो ६.१.४)
यथा सोम्यैकेन मृत्पिरान्डे सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्

अथवा लोहे के विकार (रूपान्तर) मात्र है। ये अपने कारण से भिन्न नहीं हैं। प्रत्येक विकार में उसके कारण के सभी गुण अनुवांशक मौजूद होते हैं। इसके उपरान्त इनका लय भी अपने–अपने कारण में ही होता हैं। इस प्रकार विकारों का उद्भव, स्थिति तथा लय, सभी अपने–अपने कारण में ही होता है। अतः कारण ही सत्य है, विकार नहीं। (इसकी आलोचना व्याख्या–२.१ में देखें।)

निरीक्षण–२: चेतनात्मक सृष्टिः (छांदो ६.३.१)[४] सभी प्राणी तीन प्रकार के बीजों में से पैदा होते हैं: अण्डज, जीवज तथा उद्भिज। (इसकी व्याख्या २.२ में देखें।)

निरीक्षण–३: शरीर के कारणरूप विधायक : (छांदो ६.५.१–३ टीप १.३) जो अन्न (मिट्टी) खाने में आता है वह तीन भागों में विभाजित होता है: इसके स्थूल भाग से मल, मध्यम भाग से मांस तथा सूक्ष्म भाग से मन बनता है।

जो पानी पिया जाता है वह भी तीन प्रकार से विभाजित होता है। इसके स्थूल भाग से मूत्र, मध्यम भाग से रक्त तथा सूक्ष्म भाग से प्राण बनते हैं।

जो अग्नि (तैलीय पदार्थ) खाये जाते हैं वे भी तीन प्रकार से विभाजित होते हैं। उनके स्थूल भाग से हड्डियाँ, मध्यम भाग से चर्बी तथा सूक्ष्म भाग से वाणी (वाणी के अवयव) बनते हैं। (इसकी व्याख्या २.३ में देखें)।

निरीक्षण–४: सुषुप्त अवस्थाः (छांदो[५] ४.३.३, टीप २.३ छांदो ६.८.१ टीप ८.१ बृहद् २.१.१७): इस अवस्था में इन्द्रियाँ मन में, तथा मन (इन्द्रियों सहित) प्राण में लय हो जाते हैं। इस प्रकार प्राण सूक्ष्म शरीर का निवासस्थान है। इसे स्वपिति कहते हैं क्योंकि जीव सत् (हृदयस्थ आत्मा) में लय होता है। वह स्व–स्वरूप को प्राप्त करता है । (इसकी व्याख्या २.४ में देखें)।

---

४. (छांदो ६.३.१)
तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति अंडजं जीवजमुद्भिज्जमिति

५. (छांदो ४.३.३)
अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणँ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणँ ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क इति

निरीक्षण-५: कर्म का सिद्धान्तः किसी भी प्रकार के कर्म के साथ उसके अनुरूप फल उपलब्ध होता है। (इसकी व्याख्या २.४अ में देखें)।

आदितत्त्व-१: एकमेव-अद्वितीयः

अ. पूर्वावस्थाः (छांदो ६.२.१)[६] प्रारम्भ में यह सब मात्र सत् ही था, एक तथा अद्वितीय। (इसकी व्याख्या २.५.१ में देखें)।

ब. ब्रह्म (स्वरूप लक्षण): (तैति २.१) ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त है। यह निर्विकार ब्रह्म जब सर्जनहार का स्वरूप लेता है, तब यही त्रिपुटी सच्चिदानन्द का स्वरूप लक्षण धारण करती है। यह स्वरूप भी अक्षर ब्रह्म ही है, तथा यह ६ गुण धारण करता है: ऐश्वर्य, वीर्य, कीर्ति, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य। इन गुणों को भग कहते हैं, इसी कारण यह स्वरूप भगवान् कहलाता है। इसकी व्याख्या २.५.२ में देखें)।

क. मूर्त तत्वः जिसका प्रारम्भ (जन्म) होता है, उसका अन्त (मृत्यु) निश्चित होता है। जिसका अन्त है, उसका प्रारम्भ होना अवश्यम्भावी है। (इसकी व्याख्या २.४.३ में देखें)।

आदितत्त्व-२: अव्यक्त (सूक्ष्म) सृष्टिः टीप २.७ (छांदो ६.२.३–४)[७] सत् कहता है – 'मैं जन्म लूंगा, मैं अनेक बनूंगा।' उसने अग्नि को पैदा किया। अग्नि ने कहा – 'मैं जन्म लूंगी, मैं अनेक बनूंगी।' उसने पानी पैदा किया। पानी कहता है – 'मुझे जन्म लेना हैं, मैं अनेक बनूंगा।' उसने अन्न को पैदा किया। (इसकी व्याख्या २.६ में देखें)।

---

६. (छांदो ६.२.१)
सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्

७. (छांदो ६.२.३–४)
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ।।३।।
ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भय एव तदध्यन्नाद्यं जायते ।।४।।

आदितत्त्व-३: व्यक्त (व्याकृत-प्रत्यक्ष) सृष्टिः (छांदो ६.३.२-३)[८] ''मैं इन सबको (प्रत्येक को) त्रिवृत्त करूँगा। यह सत् तीनों देवों (अग्नि, जल, अन्न) में आत्मा स्वरूप में प्रविष्ट हुआ, तथा नाम-रूप प्रकट किये।'' यह सत् साक्षी मात्र रहता है तथा प्राणों के द्वारा अपने चेतन को मन, बुद्धि व इन्द्रियों में संचार करता है। (इसकी व्याख्या २.७ में देखें)।

आदितत्त्व-४: फल प्राप्तिः

परलोकगमन की पूर्व तैयारीः यह पूर्व तैयारी ज्ञानी व अज्ञानी दोनों के लिये एक जैसी ही है।

प्राण छूटते समय (छांदो ६.१५.२)[९] ''सूक्ष्म शरीर प्राण में, प्राण अग्नि में तथा अग्नि आत्मा में लय हो जाती है।'' यह सुषुप्त अवस्था है।

अ. सिद्ध व्यक्तिः (बृहद्[१०] ४.४.६; टीप ७.५ मुंड ३.२.९, प्रश्न ६.५) यह व्यक्ति तीनों में से एक भी मार्ग नहीं लेता। यह शोकरहित तथा शाश्वत बनता है; वह ब्रह्म ही हो जाता है। (इसकी व्याख्या २.८.१ में देखें)।

ब. अज्ञानीः (छांदो[११] ५.१०.१-२; टीप ७.१ मुंड ३.२.२; बृहद् ४.४.२; प्रश्न ३.६.१०; भगी ८.६, २४,२५): जिन्हें इस जन्म में ब्रह्मज्ञान

---

८. (छांदो ६.३.२-३)
सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥३॥

९. (छांदो ६.१५.२)
अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणेप्राणस्तेजांसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥२॥

१०. (बृह ४.४.६)
तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिग्डं मनो यत्र निषक्तमस्य ।
प्रात्यान्तं कमंणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै
लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम
ऋाप्तकाम ऋात्मकामो न तस्प प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥६॥

११. (छांदो ५.१०.१-२)
ये चेमेडरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेडर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य-
माणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्डेति साऽस्तान् ॥१॥
मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं त-
त्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

प्राप्त न हुआ हो उनके लिये अपने–अपने कर्मानुसार तीन मार्गों में से एक उपलब्ध हैः १. उत्तर मार्ग, २. दक्षिण मार्ग, ३. जन्म मरण के फेरे। (इसकी व्याख्या २.८.२ में देखे)।

क. सिद्धि की परिसीमाः (छांदो ३.१४.१, बृहद् ४.४.५, भगी ८.६): ब्रह्म के जिस स्वरूप की उपासना की जाती है (२.३.२) उसी मर्यादा में फल प्राप्त होता है (यथा क्रतु न्याय)। (इसकी व्याख्या २.८.३ में देखें)।

ड. पुनर्जन्मः (छांदो ५.१०.५–८, बृहद् ४.४.६) वर्तमान लोक के प्रारब्ध कर्म का योग पूरा होने पर अन्य लोक में पुनर्जन्म होता है। (इसकी व्याख्या २.८.४ में देखें)।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि सत्–विद्या ही वेदान्त के मूलों की जन्मभूमि है, अतः हम **सत्-विद्या को वेदान्त शिरोमणि कहेंगे।**

१.७ उपयोगी व्याख्यायेंः

१. सत्यः जो अविनाशी है, वही सत्य है। वह त्रिकाल अबाध्य तथा कूटस्थ है।

२. असत्यः जो विनाशी है, वह असत्य है।

२अ. असत्ः जो असंभव है, वह असत् है (जैसे वन्ध्या पुत्र, आकाश पुष्प)। असत् न तो असत्य है, न मिथ्या। जगत असत् नहीं है, वह मिथ्या है।

३. मिथ्या (विवर्त)ः जिसके विनाश के पश्चात् किसी भी प्रकार का अवशेष नहीं रहता, वह मिथ्या कहलाता है। मिथ्या न तो सत्य है, न असत्य। इसका अस्तित्त्व इसके अधिष्ठान पर निर्भर है । इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। (रज्जू–सर्प का सर्प मिथ्या है।) अधिष्ठान ही विविध रूपों से दिखाई देता है।

४. जीवः जीव शरीर का सूक्ष्म अंग है। वह कर्ता, भोक्ता तथा इस लोक व परलोक में आवागमन करनेवाला है।

५. आत्माः परमेश्वर का अंश है। वह हृदय कमल की गुफा में निवास करते हुए शरीर की सभी इन्द्रियों को कार्यरत करता है। स्वयं वह साक्षी मात्र रहता है (सूर्य की तरह)।

वेदान्त कहता है कि ब्रह्म ही उपाधि के सान्निध्य में अनेक स्वरूपों में दिखाई देता है। सरलतापूर्वक समझाने के लिये उसे हृदयस्थ कहा है (भगी १५.७)। जीव तथा आत्मा का भेद समझाते हुए (ऐत ३.१.१) पूछते हैं, ''इन दोनों में आत्मा कौन है?'' (मुंड ३.१.१) हृदयस्थ दो पक्षियों का उद्‌बोधन करता है। आत्मा तो सर्वत्र है (इसकी व्याख्या २.७.६ में देखें)।

१.८ निवेदन-इस प्रस्तुति के संदर्भ में:

वेदान्त को आदितत्त्वयुक्त शास्त्र की दृष्टि से अवलोकित करने में उसी में छुपे हुए तत्त्वों को हम वेदान्त के मूलों के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। ये मूल वेदान्त की ही कारिकायें हैं – कोई अन्यत्र से लाया हुआ अजनबी तत्त्व नहीं है। हमें इस बात का गौरव अनुभव होता है कि हमारे प्राचीन महर्षियों की अतुल्य व यथार्थ तत्त्वदर्शन की शक्ति, जो अमूर्त में से भव्य नवसर्जन करती है, वह आज के वैज्ञानिकों को दिग्विमूढ करने की क्षमता रखती है। जिस तत्व को जानने हेतु अनेक आधुनिक वैज्ञानिक अथक परिश्रम कर रहे हैं वह ज्ञान हमें वंशगत रूप में पुराने समय से ही मिला हुआ है।

हमने (१.३) में देखा है कि वेदान्त का विषय अद्‌भुत ही है। इसमें कुदरत (प्रकृति) की अनियमितता तथा जीव सृष्टि की चंचलता, दोनों को न्याय देना होता है, जबकि वैज्ञानिक सिद्धान्तों में भौतिक तत्त्वों का ही खयाल करना होता है। इसमें न तो अनियमिततायें हैं, न भावों की चंचलता। इस कारण वेदान्तिक तथा वैज्ञानिक पद्धतियों में समानता नहीं हो सकती। परन्तु वेदान्तिक पद्धति वैज्ञानिक रीतियों के लिये अनुकरणीय अथवा आधारभूत हो सकती हैं।

मनुष्य जाति में प्राणियों को आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त करने प्रबल इच्छा रहती है। इस हेतु वे तरह–तरह के प्रयत्न करते हैं। इस रचना में ऊपर बताया गया आदितत्त्व–४ इन ध्येयों के बारे में ही वर्णन करता है। उन्हें हमें परिणाम नहीं समझना चाहिये। **मनुष्य का अपना ध्येय सिद्ध करने हेतु जो प्रक्रियाँए प्रस्तुत की गई हैं, वे ही आदितत्त्व युक्त शास्त्र के परिणाम हैं।**वहाँ हमने कहा है कि वेदान्त के सिद्धान्त वेदान्त के मूलों से प्रतिपादित हैं, तथा सिद्धान्तों के उपयोग से लक्ष्य तक पहुँचने हेतु जो विविध प्रक्रियायें प्रायोजित हैं,उन्हें प्रकरण ४–८ में प्रस्तुत किया जायेगा ।

प्रकरण-२

वैदिक मूलों का विश्लेषण

२.० विषय प्रवेशः

प्रकरण-१ (१.७.६) में हमने निरीक्षण तथा आदितत्त्व प्रस्तुत किये (१.६) । इन्हें हमने वेदान्त के मूलों के रूप में प्रतिष्ठित किये। अब उन पर हम विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे। वेदान्त के मूलों को समझकर ब्रह्म के व्यापक तथा अव्याकृत (अकथनीय) स्वरूप को प्रदर्शित करने में महर्षियों ने कितनी तीक्ष्ण तथा दूरदर्शितायुक्त कल्पना शक्ति का उपयोग किया होगा, इसकी झलक हमें मिलेगी। इसके साथ ही यह भी जानने को मिलेगा कि रोजमर्रा की सामान्य परिस्थितियों के अवलोकन को कितनी कलात्मक कुशलता से उद्‌भवित करके इन महर्षियों ने उसमें से ब्रह्म के अगम तथा अगोचर तत्त्वों का दर्शन करके कुछ आदितत्त्वों की स्थापना की है । यहाँ प्रस्थानत्रयी के सुवाक्यों का उल्लेख मात्र वस्तु स्थिति को समर्थन देने अथवा उसे अधिक प्रकाश में लाने हेतु ही किया गया है। प्रकरण-३ में वेदान्त के मूलों के आधार पर उन वाक्यों में दिये गये सिद्धान्तों को सिद्ध किया जायेगा। तत्पश्चात् प्रकरण (४-८) में हम यह बतायेंगे कि वेदान्त के मूलों द्वारा वेदान्त का तत्त्वज्ञान समझाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों के अनुसार ऐहिक व अलौकिक समृद्धि एवं मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रियायें प्रस्तुत की गई हैं। प्रस्तुत प्रकरण में कुछ साबित करने का प्रयास नहीं किया गया है, केवल मूलों को समझाकर उनकी महत्ता समझाई गई है।

२.१ सत्यः निरीक्षण-१

(टीप १.३, छांदो १.४-६) ''मिट्टी का घड़ा, सोने का कुण्ड़ल अथवा लोहे की छड़ी, ये सब अपने-अपने कारण - मिट्टी, सोना व लोहा - से भिन्न नहीं हैं; मात्र विकार (रूपान्तर) ही हैं। प्रत्येक विकार (रूपान्तर) अपने मूलकारण को ही बनाये रखता है। विकार अपने कारण से अलग नहीं है। इनका (नष्ट होने के पश्चात्) लय भी मूल कारण में ही होता हैं। इस प्रकार

विकारों का उद्भव, स्थिति तथा लय अपने–अपने कारण में ही होते हैं। इसीलिये कारण ही सत्य है, विकार नहीं।

यह प्रारंभिक अवलोकन सत् (ब्रह्म) के स्वभावजन्य लाक्षणिक गुणों को किस प्रकार प्रतिबिम्बित करते हैं, इस ओर दृष्टि करते हैं। इस आगे की चर्चा में केवल मिट्टी का ही उल्लेख किया जायेगा, सुवर्ण तथा लोहे को इसी चर्चा से समझ लेना होगा।

२.१.१ एकम् एव अद्वितीयं: कुम्हार घड़ा, दीपक आदि बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है उससे पूर्व (उसके उपकरणों की अपेक्षा) मिट्टी एक तथा अद्वितीय थी। इस अवलोकन का अमूर्त स्वरूप आदितत्त्व–१(अ) के रूप में प्रस्तुत किया गया: ''प्रारम्भ में यह सब सत् ही था, एक और अद्वितीय।''

२.१.२ मिट्टी–घड़े का उपादान कारण: मिट्टी के विकार (घड़ा, दीपक आदि) मिट्टी से ही पैदा होते हैं; उसी पर निर्भर करते हैं, तथा उसी में लय होते हैं। कुम्हार मिट्टी का पिण्ड़ लेकर उसका आकार बदलकर नये–नये रूप देता है, इससे कोई नया तत्त्व पैदा नहीं होता। इसलिये वास्तव में तो वह मिट्टी ही है। घड़े के टूटने के बाद उसका आकार नष्ट हो जाता है, तथा वह पुनः मिट्टी में रूपान्तर हो जाता है। सत् के सभी विकार इसी गुणधर्म वाले होते हैं। (३.३ प्रमेय–२; ३.२ पूर्वप्रमेय–२)।

२.१.३ नाम रूप बहुतेरे: कुम्हार मिट्टी के पिण्ड को घड़े का रूप देता है, तथा इस नये स्वरूप की पहचान के लिये इसे 'घड़ा' नाम देता हैं। इस प्रकार नाम–रूप नये पैदा होने पर भी है तो सब मिट्टी ही। इस प्रकार कारण के ज्ञान से उसके सभी विकारों का ज्ञान हो जाता है। ''नाम–रूप जूजवा, अंते तो हेम नो हेम होये'' (नरसी महेता)। (नाम रूप तो अनेक है, बाकी सब सोना ही सोना है।) सत् में भी इसी गुण का आरोप किया जाता है। ''सत् को जानने से सभी का ज्ञान हो जाता है।'' महर्षि उद्दालक द्वारा पूछे गये प्रश्न (१.५) का उत्तर वे स्वयं ही देते हैं, जो ऊपर दिये गये अनुसार है। इसे आदितत्त्वों के आधार पर (३.३ प्रमेय–५) में सिद्ध किया गया है। इसके उपरान्त इससे कारण व कार्य की एकता दृष्टिगोचर होती है, अर्थात् यह निष्कर्ष निकलता है कि – **'जगत् ब्रह्म से अलग नहीं है।'**

२.१.४ ''जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अन्त भी निश्चित् ही होता है।'' – इससे विपरीत, जो विनाशी है, उसका प्रारम्भ भी अवश्य हुआ ही होना चाहिए। इस प्रकार विनाशी वस्तु अनादि हो ही नहीं सकती। यह आदितत्त्व–१(क) है। जिस प्रकार यह तथ्य मिट्टी तथा उसके विकारों के लिये सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्म तथा उसके विकार – जगत के लिये भी सत्य है।

२.१.५ - सत्यः ऊपर (२.१.४) में सूचित विकारों की क्षणभंगुरता को ध्यान में रखते हुए (१.७) में सत्य, असत्य व मिथ्या की व्याख्या की गई है। श्रुति कहती है कि जो विनाशी है, वह असत्य है, तथा जो अविनाशी है, वही सत्य है। हमने ये भी देखा कि मूल कारण – ब्रह्म – ही सत्य है। सभी विकार एवं जगत असत्य है। विकारों का मूल वाणी है, वह तो नाम मात्र है, (टीप १.३ छांदो ६.१.४) मिट्टी ही सत्य है। देवर्षि नारद अपनी परेशानी सनत्कुमार को बतलाते हैं, ''मैं अनेक विद्याओं में कुशल होते हुए भी दुःख से घिरा हुआ क्यों रहता हूँ?'' इसका उत्तर उन्हें मिलता है: ''नामैवैतत्–वे'' अर्थात् सब नाम मात्र हैं। उनका तात्पर्य है, कि ये सब प्रापंचिक (मायारूप) विद्यायें विनाशी होने के कारण दुःखदायी हैं; अविनाशी ही निर्विकार आनन्द दे सकता है। सत् – मूल कारण – ही अमर है, अतः वही सत्य है (३.२, उपप्रमेय–३)।

मिट्टी (स्वर्ण अथवा लोहा) के अतिरिक्त अन्य विपरीत दृष्टान्त भी हो सकते हैं। जैसे दही दूध का विकार है, किन्तु उससे दूध वापस प्राप्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार जब विकार कारण के गुणधर्मों को बनाये नहीं रखता (त्याग देता है), तब कारण के ज्ञान से विकारों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। श्रुति में इसी प्रकार के उदाहरण पसन्द किये गये हैं, जिनके लक्षण सत् के लक्षणों के अनुरूप हों।

२.१.६ ऊर्ध्व रूपान्तरः किसी भी प्रकार के संशोधन तथा विकास (Research and Development) के कार्य में निरीक्षण आधारभूत योगदान करते हैं। सामान्य रूप से किये गये निरीक्षणों के सामान्यी करण तथा उपांतरण (Generalization and modification) के आधार पर नये सूत्रों की रचना करके संशोधन कार्य आगे बढाया जाता है। आदि निरीक्षणों की प्रतिकृति में आवश्यक क्रांतिकारी लक्षणों का प्रयोग भी किया जाता है ।

ऊपर मिट्टी की प्रतिकृति – सत् – में भी बहुत से लक्षणों को संयोजित किया गया है।

१. घड़ा मिट्टी का प्रथम तथा अन्तिम विकार है, क्योंकि घड़े से अन्य कोई उपकरण नहीं बनता। सत् के विकारों की अनेक परम्परायें होती हैं तथा उन विकारों के मिश्रण व संयोजन से नये–नये उपकरण प्राप्त हैं।

इन सबका कारण सत् ही है।

२. मिट्टी चेतना से रहित है, अतः इसके विकार पैदा करने के लिये कुम्हार की आवश्यकता होती है; इस प्रकार यह मात्र उपादान कारण है। सत् उपादान तथा निमित्त कारण है। इसने केवल अपने से ही समस्त सर्जन किया है (तैत्ति. २.७.१)।

३. हमारे उदाहरण में मिट्टी (कारण) इन्द्रियगम्य है, जबकि इसकी प्रतिकृति (ब्रह्म) अतीन्द्रिय है, किन्तु इसका कार्य स्पष्ट है।

४. हमारे प्रतिरूप (नमूने) (model) का सत् अनादि, अक्षय, अखण्ड़ तथा अतीन्द्रिय है, किन्तु उसका कार्य, जगत्, ऐसा नहीं है। इसी कारण कई तत्त्ववेत्ता लोग इसे मिथ्या कहते हैं। कई ज्ञानी लोग (बुधजन) जगत को परिणाम स्वरूप कहकर समझाते हैं (२.७.५), क्योंकि इसकी सहायता से कार्य–कारण की एकता सरलता से समझाई जा सकती है।

२.२ सृष्टि सर्जनः निरीक्षण-२

(टीप १.४, छांदो ६.३.१) ''ये सभी प्राणी तीन प्रकार के बीज द्वारा पैदा होते हैं : अण्डज, जीवज तथा उद्भिज ।''

यहाँ चेतन तत्त्वों को तीन विभागों में विभाजित किया गया है। अण्ड़ज, अर्थात् जिनका जन्म अण्ड़े से होता है, इस वर्ग में पक्षी आते हैं; जीवज, अर्थात् जिनका जन्म माता के गर्भ से होता है, इस वर्ग में मनुष्य व पशु आते हैं । उद्भिज, अर्थात् जो जमीन की सीलन (नमी) के कारण पैदा होते हैं, वनस्पति तथा सूक्ष्म जन्तु इस श्रेणी में आते हैं । इसी में स्वेदज, अर्थात् मच्छर, मक्खी का भी समावेश होता हैं।

श्रुति यहाँ मुर्गी व अण्ड़े की पहेली प्रस्तुत करके निर्णय करती है कि मुर्गी ही प्रथम है। कारण कि अण्ड़े से मुर्गी जन्म तो ले सकती है, पर अण्ड़ा इस क्रम को सतत बनाये रखने में असमर्थ है, इसके लिये मुर्गी ही समर्थ है, वही इस क्रम को बनाये रख सकती है।

२.३ शरीर के कारण रूप तत्त्व : निरीक्षण-३

(छांदो ६.५.१-३)[१] जो खुराक (भोजन) खाई जाती है वह तीन प्रकार से विभाजित होती है। उसके स्थूल भाग से मल, मध्यम भाग से मांस तथा सूक्ष्म भाग से मन बनता है।

जो पानी पिया जाता है वह भी तीन भागों में विभाजित होता है; उसके स्थूल भाग से मूत्र, मध्यम भाग से रक्त तथा सूक्ष्म भाग से प्राणों की रचना होती है। जो अग्नि मय पदार्थ (तैलीय पदार्थ) खाने में आते हैं उनका भी तीन प्रकार से विभाजन होता है। उनके स्थूल भाग से हड्डियाँ, मध्यम भाग से मज्जा तथा सूक्ष्म भाग से वाचा (वाणी के अवयव) बनते हैं।

संक्षेप में, जो अन्न, पानी एवं अग्निमय पदार्थ खाने में आते हैं, उनके स्थूल भाग से उच्छिष्ट पदार्थ, जैसे मलमूत्र, हड्डियाँ आदि; मध्यम भाग से स्थूल शरीर जैसे मांस, रक्त, मज्जा (चर्म, वीर्य आदि) तथा सूक्ष्म भाग से सूक्ष्म शरीर के अवयव, जैसे मन, प्राण तथा इन्द्रियों का पोषण होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्राण, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियाँ अन्न, जल व अग्नि से बने हुए नहीं हैं, वे सूक्ष्म शरीर के ईंधन मात्र हैं। अन्तःकरण, प्राण, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियाँ एवं शरीर पाँच अपंचीकृत महाभूतों (आकाश, जल आदि) से बने हुए हैं (२.७) । महर्षि उद्दालक इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं (छांदो[२] ६.६.२-४) - जैसे दही को बिलोने से

१. (छांदो. ६.५.१-३)
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माँसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥१॥
आपः पीतास्त्रधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥२॥
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

२. (छांदो. ६.६.२-४)
एकमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥२॥
अपाँ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥
तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

उसके सूक्ष्म भाग में से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार अन्न, पानी तथा अग्नि के सूक्ष्म भागों से जो तत्त्व निकलते हैं उनसे क्रमशः मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों को पोषण मिलता है। इतने पर भी श्वेतकेतु को अभी शंका रहती है कि अन्न से मन–बुद्धि की पुष्टि कैसे होती है? अब पिताश्री उससे कठोर साधना करवाते हैं – (छांदो ६.७.१–६) – कहते है, 'हे पुत्र! तू १५ दिन उपवास कर, परन्तु पानी पीता रहना, पानी के बिना प्राण भी नहीं रहेंगे, क्योंकि पानी ही प्राणों का ईंधन है ।'' पन्द्रह दिन पश्चात् पिता श्री कहते हैं कि तुमने वेदाभ्यास किया है, इसलिये इसका कोई भी एक सूत्र सुनाओ। पुत्र को एक भी सूत्र याद नहीं आया। फिर उसे अन्न लेने की सलाह दी गई। इसके बाद उसे खयाल आया कि उसे पुनः सभी सूत्र याद आ गये हैं। इस प्रकार पिताश्री ने यह सिद्ध करके बताया कि अन्न से ही मन व बुद्धि अपना कार्य कुशलतापूर्वक करने में समर्थ होते हैं। प्रश्न उठता है, कि मात्र १५ दिन का ही उपवास क्यों रखाया गया? अधिक दिन का उपवास रखने से मन की सम्पूर्ण शक्ति का ह्रास हो जाता, तथा उसे पुनः पूर्ण सशक्त बनाने में अधिक कष्ट होता। १५ दिन के उपवास से थोडी शक्ति बची रही थी, जिससे पूर्ण शक्ति उद्दीपन करने में सरलता रही। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे अग्नि के तिनके मात्र से ही घास का बड़ा ढेर जल कर राख हो जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि भौतिक तथा सूक्ष्म शरीर तीन देवों – अन्न, जल व अग्नि – इन जड़ तत्त्वों से बना हुआ है। इस प्रकार ये तीनों देव भौतिक व सूक्ष्म शरीर के कारण तो हैं, पर मूल कारण तो सत् ही है । इससे स्पष्ट होता है कि ''मैं'' जड़ अथवा सूक्ष्म शरीर नहीं है। (देखें ३.३.१)

अपंचीकृत पंच महाभूत (२.७.२)

	आकाश	वायु	अग्नि	जल	स्थल	
तन्मात्र	शब्द	स्पर्श	रूप	रस	गंध	ज्ञानेन्द्रियाँ
ज्ञानेन्द्रिय	श्रोत्र	त्वचा	चक्षु	जिह्वा	नासिका	सत्त्वगुणी हैं।

कार्य	बोलना	क्रिया करना	चलना	मलत्याग	आनन्द	कर्मेन्द्रियाँ
कर्मेन्द्रियाँ	जिह्वा	हाथ	पैर	गुदा	उपस्थ	रजोगुणी हैं।

पाँच प्राण अपंचीकृत पंच महाभूतों के रजस् तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं:

प्राण	आवास	क्रियाशक्ति
प्राण	नासिका	श्वासोच्छवास
अपान	गुदा/उपस्थ	मल/मूत्र उत्सर्ग
व्यान	समस्त शरीर	लोही का भ्रमण
समान	जठर	पाचन क्रिया
उदान	गला	मृत्यु के समय जीव को उचित मार्ग से ले जाना।

अन्तःकरण: मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार अपंचीकृत पंच महाभूतों के सत्त्व गुण से उत्पन्न होते है।

भौतिक स्थूल तत्त्व तथा प्राणियों का शरीर: पंञ्चीकरण के बाद पैदा हुए तत्त्वों के तमस गुण से उत्पन्न होता है।

चक्षु से अन्न का रसास्वादन क्यों नहीं किया जा सकता? ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी तन्मात्रा के विषयों को ही भोग सकती हैं। चक्षु की तन्मात्रा रूप–रंग होने के कारण वे प्रत्येक आकार को देख सकते हैं। मात्र जिह्वा ही अन्न का रसास्वाद ले सकती है।

२.४ सुषप्ति अवस्था, निरीक्षण-४:

(टीप १.५, छांदो ४.३.३; छांदो[३] ६.८.१; टीप–१ बृहद् २.१.१७) सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियाँ मन में, मन (इन्द्रियों के साथ) प्राण में लय हो जाते हैं । (प्राण इन्द्रियों का आश्रय स्थान है) उसे (जीव को) स्वपिति कहते हैं, क्योंकि उसका लय सत् में होता हैं। वह आत्मा को प्राप्त हो जाता है। प्रश्न

३. (छांदो. ६.८.१)
उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति य-त्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन॰ स्वपितीत्याचक्षते स्व॰ह्यपीतो भवति ।।१।।

उठता है कि लय किसका होता है? लय इन्द्रियों की वृत्ति एवं कार्यशीलता का होता है, भौतिक अंगों का नहीं।

निद्रा की दो अवस्थायें हैं; स्वप्न एवं सुषुप्ति। स्वप्नावस्था में मन, जो इन्द्रियों का नियामक व संचालक है, इन्द्रियों की संज्ञा नहीं स्वीकारता तथा उनको कार्यशील भी नहीं करता – इसी को ''इन्द्रियों का मन में लीन हो जाना'' कहते हैं। कारण कि इस अवस्था में इन्द्रियाँ निष्क्रिय हैं; परन्तु मन स्वयं सक्रिय है। यह चित्त में संग्रहित पूर्व अनुभवों तथा वासनाओं को सजग करके स्वयं उनके साथ रमण करता है। यह अवस्था क्रिया तथा वासना के साथ जुड़ी हुई है। इस अवस्था का बिल्कुल वैसा ही चित्र देखें: (८.५.३–१०, वृहद् ४.३.१०) ''वहाँ न रथ है, न घोड़े हैं, न रास्ते हैं, परन्तु मन की कल्पनायें मात्र हैं। वहाँ स्नान गृह, सरोवर अथवा नदियाँ नहीं हैं, परन्तु केवल मन ही इन सबको पैदा करता है।'' इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ निष्क्रिय ही होती हैं, परन्तु जैसे चित्रपट पर छाया चित्र चलते रहते हैं, उसी प्रकार मन के चित्रपट पर रंगीन सपने चलते रहते हैं। जागृति में आते ही बिना कोई अवशेष छोड़े ये सब सुनहरे (अथवा व्यथा से भरे) सपने अदृश्य हो जाते थे । जो स्वप्नावस्था में सत्य प्रतीत होते हैं, वे अब मिथ्या ही जान पड़ते हैं (१.७ व्याख्या–३)।

कभी–कभी मन भी छुट्टी मनाता है (अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है) – उसे स्वप्नरहित सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को समझाने हेतु श्रुति दृष्टान्त देती है: (छांदो[४] ६.८.२; वृहद् ४.३.१९) ''जैसे डोरी से बंधा हुआ पक्षी प्रत्येक दिशा में घूम कर, अन्यत्र आश्रय न मिलने पर, अपने मूल स्थान पर ही वापस आ जाता है, उसी प्रकार मन भी चारों ओर घूम कर, अन्यत्र आश्रय न पाकर, प्राण में ही विश्राम पाता है।'' इसी प्रकार भौतिक परेशानियों से थका हुआ मन, उस बालक की तरह जो माता की गोद में निश्चिन्त होकर विश्राम करता है, जागृत व स्वप्न सृष्टि को भूल कर प्राण में ही विश्रान्ति प्राप्त करता है। इसलिये अब केवल प्राण ही अपने कर्तव्य में रत रहता है (हम

४. (छांदो. ६.८.२)

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति ।।२।।

जानते हैं कि प्राण यदि विश्राम लेगा तो क्या होगा!) इसीको प्राण में मन (व इन्द्रियों) का लय होना कहते है। इसी अर्थ में प्राण मन का आश्रय स्थान है, अथवा मन का बन्धन है। इस अवस्था में जागृत अथवा स्वप्नावस्था की वासना अथवा क्रियाशीलता – जो मन की उपाधियाँ हैं – नहीं रहती; अतः निर्मल व प्रशान्त शान्ति का अनुभव होता है ।

उपरोक्त तथ्यों को आगे बढाते हुए श्रुति (वृहद् ४.३.२१–२२) सत् की संलग्नता का दिग्दर्शन कराती है: ''यह अवस्था वासना तथा कार्यरतता से परे होने के कारण इस समय जीव सृष्टि से निर्लिप्त रहता है; वह निर्भय तथा दुःख रहित रहता है; वह पवित्र तथा अपवित्र कर्मों से भी परे है; वह आत्मा के साथ आलिंगित है ।'' यही अद्भुत् आनन्द का कारण है। (छांदो ६.८.१) इसी बात को अन्य शब्दों में कहा जा सकता है: इस अवस्था में जीव का सत् में लय होता है। यही स्वपिति है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सत् का अस्तित्त्व है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस अस्त – व्यस्त जीवन में से सुषुप्ति की शान्ति को कौन ले जाता है, तथा उसमें वापस आना कैसे होता है ? (प्रश्न३.६) ''हृदय में से १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं, उनमें से प्रत्येक नाडी १०० शाखाओं में प्रसारित होती हैं । इसे हिता नाड़ी कहते हैं । प्रत्येक नाडी ७२००० शाखाओं में प्रसारित होती हैं। (टीप ८.२, ८.३ वृहद् ४.३.१९–२०) में कहा गया है ये नाड़ियाँ सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान हैं, इनमें ही वृत्ति एवं अनुभवों का संग्रह रहता है । यही चित्त है । जब मन के साथ इन नाड़ियों का अनुसंधान नहीं रहता तब निद्रा सुषुप्त अवस्था में परिणमती है, तथा जागृत अथवा स्वप्न सृष्टि के साथ का संयोग टूट जाता है। जब यह संयोग पुनः स्थापित होता है, तब सुषुप्त अवस्था से बाहर आकर भौतिक अनुभवों का चक्र पुनः गतिमान हो जाता है ।

जब व्यक्ति सुषुप्त अवस्था से बाहर आता है तब उसे केवल इतना ही अनुभव होता है कि वह अत्यन्त शान्ति अनुभव कर रहा था । इसके अतिरिक्त उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता । वैसे तो सुषुप्ति द्वारा भौतिक अस्त व्यस्तता से विरक्त होने पर भी अज्ञान की अवस्था तो रहती ही है – अल्पकालिक ज्ञान की स्थिति का अस्तित्व ही नहीं है। अतः प्रश्न उठता है कि इस (सुषुप्ति)

अवस्था में उसका आत्मा के साथ संयोग हुआ था, यह वह न जान सका, इसका क्या कारण है? (छांदो ६.९.१–३)[५] ''मधु मक्खियाँ अनेक फूलों का रस इकट्ठा करती हैं, पर उसे (रस को) यह खयाल नहीं रहता कि वह किस फूल का मधु है । उसी प्रकार जीव भी यह नहीं समझ सकते कि वे कहाँ से आये हैं । (सुषुप्ति में से) वापस बाहर आते समय वे अपने मूल (जागृत) स्वरूप को ही धारण करते हैं न कि सिंह, वाघ या अन्य कोई स्वरूप ।''

इन तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) में अन्वय–व्यतिरेक देखने योग्य है । जाग्रत अवस्था में चेतन का अन्वय तथा स्वप्नावस्था में उसका व्यतिरेक है । स्वप्नावस्था में स्वप्न का अन्वय तथा चेतन का व्यतिरेक है । सुषुप्ति अवस्था में चेतन तथा स्वप्न दोनों का ही व्यतिरेक होता है । परन्तु तीनों अवस्थाओं में असंग व अचल आत्मा मौजूद रहता है । यही सत् के अस्तित्व का प्रमाण है ।

२.४ (अ) कर्म का सिद्धान्त : निरीक्षण–५

कोई भी प्रकार के कर्म के साथ उसके अनुरूप फल उपलब्ध होता ही है ।

हमारे योगी इस सिद्धान्त का निरूपण प्राचीन काल से करते आये हैं । इसी के अनुरूप भौतिक शास्त्र का सिद्धान्त है, ''प्रत्येक आघात के समान मात्रा में उसके विपरीत प्रत्याघात होता है ।'' यहाँ आघात को कर्म व प्रत्याघात को कर्मफल समझना चाहिये । फल कर्म की तीव्रता अथवा सघनता के प्रमाण में ही होता है । इस सिद्धान्त का सामान्यीकरण आदितत्त्व–४ (१.६) के रूप में प्रकट किया गया है ।

इस निरीक्षण के अनुसार किसी भी परिस्थिति में कर्मफल का भोग किये बिना उसका नाश नहीं होता है । कर्मफल को भोगने के लिये उसके अनुकूल परिस्थिति होनी भी आवश्यक है । इसके लिये संचित कर्म का

---

५. (छांदो ६.९.१–३)

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ।।१।।
ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव
खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ।।२।।
त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो
वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति ।।३।।

सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। अनन्य सफलता प्राप्त करने वालों के लिये स्वर्ग तथा उनके पुण्य कर्म पूर्ण होने के पश्चात् **पुनर्जन्म का सिद्धान्त** उपस्थित किया गया: श्रेष्ठतम जीवों के लिये मोक्ष तथा पापी के लिये जन्म–मरण का निरन्तर चक्र गतिमान किया गया।

मिट्टी सिर्फ उपादान कारण ही है, परंतु इस सृष्टि के कारण रूप ब्रह्म ने समरूप (homogeneous) चैतन्य प्रदान कर उसे ही उपादान व निमित्त कारण की मान्यता बख्शी है। इस विचारधारा को आगे बढाकर सगुण व निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्तों को स्थापित किया। माया के आवरण में लोगों (worlds) ने देव–देवियों तथा चेतन–अचेतन सृष्टि का सर्जन किया। साधकों के लिये शास्त्रों के अनुसार सर्जन की हुई कोई भी स्थिति उपलब्ध है, परन्तु उसके लिये योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है। सगुण ब्रह्म को भी प्राप्त किया जा सकता है। इन विविध स्थितियों को प्राप्त करने की प्रक्रिया भी आगे प्रकरण ४–६ में बताई गई है।

इसमें वास्तविकता का समावेश है, क्योंकि पुरातन तथा अर्वाचीन महर्षियों ने अपने अन्तर के अनुभवों से इन सिद्धान्तों को एक मत से मान्यता दी है।

२.५ अकेला (एकमात्र/एकाकी) : आदितत्त्व-१

२.५.१ ब्रह्मः आदितत्त्व-१ (अ)

पूर्वावस्था : (टीप १.६, छांदो ६.२.१) प्रारंभ में यह सब मात्र सत् ही था; एक तथा अद्वितीय।

यह ब्रह्म का विशेष लक्षण है, जो मिट्टी के सामान्यीकरण के रूप में (२.१.१) में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ''प्रारंभ'' का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म की स्थिति से लिया गया है। सृष्टि के अस्तित्व से पूर्व भी सत् का अस्तित्व था। इसीलिये इस में कहा गया है कि सत् का कभी प्रारम्भ नहीं था। उसकी उत्पत्ति नहीं है। ''केवल सत् था'', इसमें भूतकाल है, यह कथन ऐसा नहीं कहता कि अब उसका अस्तित्व नहीं है। क्योंकि वह ''एकमात्र व अद्वितीय'' है। अन्य कोई भी वस्तु का निषेध होने के कारण यही मानना पडेगा कि सृष्टि ब्रह्म का ही स्वरूप है,''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''(छांदो ३.१४.१)।

सृष्टि का यह आभास सत् की उपाधियों के कारण ही है । यों तो सत् सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद से रहित है, तथा इसका रूपान्तर भी नहीं होता । इससे प्रश्न उठता है कि सृष्टि सत् की अभिव्यक्ति है अथवा सर्जन? (अधिक के लिये देखें २.७.५) ।

२.५.२ ब्रह्म के लक्षण : आदितत्त्व-१ (ब)

ब्रह्म (सत्) : ब्रह्म का स्वरूप लक्षण (टीप ५.२, तैत्ति २.१.१) सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम् है । यह निर्विकार ब्रह्म सर्जन के समय सच्चिदानन्द (सत्+चित्+आनन्द) का स्वरूप लक्षण धारण करता है । यह स्वरूप भी अक्षर ब्रह्म है तथा इसके छै गुण – ऐश्वर्य, वीर्य, कीर्ति, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य हैं । इसे भग कहते हैं । इसलिये ब्रह्म के इस अक्षर स्वरूप को ही भगवान् कहते हैं ।

(टीप ५.३, तैत २.४) ब्रह्म को इन्द्रियातीत तथा कल्पनातीत कहते हैं, इसलिये (टीप ८.४, वृहद् २.३.६) ब्रह्म की व्याख्या अभावरूप में – ''नेति नेति'' – कहकर की जाती है । इस व्याख्या से इसे जानना कठिन है। किसी वस्तु की सजातीय विशिष्टता दर्शाने हेतु उसके विशेषण तथा विजातीय विशिष्टता के लिये लक्षणों का उपयोग किया जा सकता है, किन्तु यहाँ थोडी कठिनाई है । हम नीचे बतायेंगे कि श्रुति ब्रह्म को ज्ञाता, ज्ञान अथवा ज्ञेय से परे समझाती है । यदि ब्रह्म को विशेषण अथवा लक्षणों से जाना जा सकता हो तो इसे ज्ञेय कहा जाएगा । इससे श्रुति का विरोध होगा। तो भी श्रुति हमें अरुंधती–न्याय के अनुसार ब्रह्म के समीप ले जाती है । भाववाचक विशेषण (छांदो ३.१४.२)[६] ''मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प'', अभावरूप विशेषण (८.४.१.८#८, वृहद् ३.८.८) अस्थूल, अन्–अणु, अदीर्घ, छोटा आदि ब्रह्म को विशिष्टता प्रदान करते है । (टीप ५.२, तैत्ति २.१.१) : ''सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्'' हम इस त्रिपुटी पर आगे और चर्चा करेंगे, क्योंकि ब्रह्म को सर्जनहार के रूप में स्थापित करने में ये लक्षण उपयोगी हैं । सत्य होने के कारण ब्रह्म असत् नहीं है, ज्ञान होने के कारण ब्रह्म जड़ नहीं है, तथा अनन्त

६. (छांदो ३.१४.२)
मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।।२।।

होने के कारण वह सीमित नहीं है । अतः जो असत् नहीं है, जो जड़ नहीं है तथा जो सीमित नहीं है, उसका श्रवण मनन व निदिध्यासन करने से ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है ।

आधुनिक विज्ञान कहता है कि सृष्टि का सर्जन, स्थिति तथा विसर्जन (विलय) ऊर्जा (Energy) से होता है । इस प्रकार यह उपादान कारण तो है पर निमित्त कारण नहीं है । इसे सांख्यवाद की ''प्रकृति'' कहा जा सकता है। वैज्ञानिक गण स्थूलता का अभ्यास करके ब्रह्म की अलौकिकता की थाह पाने का प्रयत्न कर रहे हैं (१.२ पीटर हिग्ज), जबकि हमारे पौराणिक महर्षियों को ब्रह्म की अलौकिकता का ज्ञान होने के कारण उन्होंने इस विषयक सूक्ष्म तत्त्वों का गहरा अभ्यास करके ब्रह्म को निर्गुण प्रमाणित किया। उसे एक एवं अद्वितीय बताने पर भी उसे ही उपादान तथा निमित्त कारण रूप घोषित करके सर्जनकर्ता के रूप में आलोकित किया, तथा उसमें सत्, चित् आनन्द के लक्षणों का दर्शन किया । इसके अतिरिक्त अखण्ड़ व अविभाजित ब्रह्म को सर्वं खलु इदं ब्रह्म घोषित किया ! इस विरोधाभास को ब्रह्म की उपाधि माया से समझाया जाता है ।

२.५.२.१ सत्यं ज्ञानं अनन्तम् : ये ब्रह्म के स्वरूप लक्षण होने के कारण इनमें से कोई भी एक लक्षण अन्य दो लक्षणों की प्रतीति कराता है । इस अवस्थामें ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एक रूप हैं । (८.५.३, वृहद् ४.३.२३–२४) से इसका समर्थन मिलता है। ''यह (ब्रह्म) इस स्थिति में देखता (सूंघता, स्वाद का अनुभव करता, बोलता, सुनता, विचारता, स्पर्श करता अथवा जानता) नहीं है । यह देखते (सूंघते... आदि) हुए भी देखता (सूंघता... आदि) नहीं है, क्योंकि इस साक्षी रूप ब्रह्म की दृष्टि (सुगन्ध... आदि) कभी लोपायमान नहीं होती, वह अमर है । परन्तु उससे भिन्न अन्य किसी का अस्तित्त्व ही नहीं है, जिसे वह देखे (सूंघे... आदि) ।'' इस सूत्र के अन्तिम वाक्य में तो ''एक एवं अद्वितीय'' (आदितत्त्व–१ (अ)) का पुनरुच्चारण ही है, एक ही होने के कारण किसे देखे, अथवा किसके साथ वार्तालाप करे? पूर्व वाक्य में स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म में सभी शक्तियाँ हैं, तथा ये शक्तियाँ अविनाशी हैं । परन्तु ब्रह्म में कार्य का अभाव होने से इस स्थिति को कर्ता, कर्म तथा कार्य रहित कहा जाता है । कर्ता अर्थात् ज्ञाता; कर्म अर्थात् ज्ञेय, तथा जो इससे उपार्जित हो उसे ज्ञान कहा जाता है । ब्रह्म में ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय

की एकरूपता होने से भिन्नता नहीं हैं । यह समष्टि तुरीयावस्था है । इसे और अधिक स्पष्टता से समझाने के लिये विद्युत (Electricity) का उदाहरण लेते हैं । विद्युत में प्रकाश, गरमी, ठंडक तथा गति पैदा करने की शक्ति है पर ये स्वयं कार्यशील नहीं हो सकती । उपरोक्त प्रभाव (क्रियायें) उत्पन्न करने हेतु उस क्रिया के अनुरूप उपकरण ही वह कार्य उत्पन्न कर सकता है । अतः उपरोक्त सूत्र के अनुसार कहा जा सकता है कि विद्युत में प्रकाश पैदा करने की शक्ति होते हुए भी वह प्रकाशती नहीं है ।'' इस चर्चा का भावार्थ यह है की ब्रह्म के चेतन से ही सभी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्रियाशील होती हैं जैसे विद्युत के अस्तित्त्व से ही उसके उपकरण गर्मी, ठण्डक, प्रकाश आदि पैदा कर सकते हैं । ब्रह्म स्वयं इन सबका साक्षी मात्र है। सूर्य के आगमन से पृथ्वी पर सारी हलचल प्रारम्भ हो जाती है, तथा उसके अस्त होने पर सब कुछ शान्त हो जाता है । सूर्य तो इन सबसे निर्लिप्त है, साक्षी मात्र है ।

सत्यम् : जिसका आन्तरिक स्वरूप अविचल तथा अविनाशी है, वही सत्य है (टीप १.३, छांदो ६.१.४–६) (देखें १.७ व्याख्या–१) ।

मूल कारण रूप मिट्टी, सोना या लोहे के विकार से पैदा हुआ घड़ा, हार अथवा हथोड़ी के सन्दर्भ में मूल स्वरूप ही सत्य है । प्रत्येक विकार असत्य है । छान्दोग्योपनिषद् में भी इसी प्रकार व्यक्त किया गया है(छांदो६.४.१–४): ''लाल, सफेद तथा काला रंग जो ज्योति, सूर्य, चन्द्र तथा बिजली में दिखाई देता है वह क्रमशः उनके कारण रूप अग्नि, जल व पृथ्वी के हैं । अतः इन कारणरूप पदार्थों के रंग लाल, सफेद व काला ही सत्य है ।''

इसीलिये उपसंहार रूप से कहा जा रहा है कि प्रत्येक विकार केवल नाममात्र को ही है, मूल कारण ही सत्य है । क्यों? क्योंकि विकार अविचल तथा अविनाशी नहीं है, विकारों की अपेक्षा उनके मूल कारण अविचल तथा अविनाशी हैं । व्यवहार में जो कुछ है, वह मात्र इन्द्रियों के विषय ही हैं, तथा मर्त्य हैं, इसलिये ये सब असत्य हैं । परन्तु जर, जमीन व जोरू (पुत्रेशणा, वित्तेशणा तथा विश्वेशणा) ये सब प्रत्यक्ष हैं, उन्हें असत्य कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि ये सब सापेक्ष सत्य हैं, निरपेक्ष प्रकार से तो ये असत्य ही हैं । यह लक्षण ब्रह्म को असत् से भिन्न बतलाता है ।

ज्ञानम् : ब्रह्म के सत्य लक्षण से सत् का अनुष्ठान हुआ । इसमें जड़ता का आभास होता है क्योंकि ब्रह्म को उपादान कारण कहा है । इससे यह न समझना चाहिये कि ब्रह्म जड़ है । इसलिये दूसरे लक्षण में ज्ञान को ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहा गया । बुद्धि के द्वारा एकत्रित की गई सामग्री को प्रायः ज्ञान कहा जाता है, किन्तु इस प्रकार का ज्ञान स्थाई नहीं हो सकता है, तथा यह संशयात्मक भी हो सकता है । वैसे ज्ञान अनेक प्रकार का होता है । ब्रह्म का ज्ञान ही केवल (निरपेक्ष) ज्ञान है, क्योंकि यह अविचल तथा अविनाशी है (इसलिये स्थाई है) । इस प्रकार व्यवहारिक ज्ञान केवल ज्ञान से एकदम विरुद्ध है । केवल ज्ञान से ही सभी विषय प्रकाशित होते हैं (केन १.५–९) । अतः ब्रह्म सर्वग्य है । (टीप १.२, छांदो ६.१३) महर्षि उद्दालक अपने पुत्र को पूछते हैं, कि क्या तुमको एक ऐसे तत्त्व की जानकारी है, कि जिसे जानने से सभी न जाने हुए (अनजान) तत्त्व जाने हुए जैसे प्रतीत हों? इसका उत्तर है, ''ब्रह्म'' । इसका कारणभूत ज्ञान अन्य सर्व व्यवहारिक ज्ञान को प्रकाशित करता है । यह लक्षण ब्रह्म को जड़ पदार्थों से भिन्न दर्शाता है ।

अनन्तम् : (टीप ४.३, छांदो ७.२४.१) में इस प्रकार विधिपूर्वक व्याख्या दी गई है – ''अनन्त वह है, जहाँ न कोई अन्य दिखाई दे, न सुनाई दे तथा न समझा जा सके । सीमित वह है जहाँ किसी अन्य को देखा, सुना अथवा समझा जा सके । जो सीमित है, वह मर्त्य है । जो अनन्त है, वह शाश्वत है ।'' इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्म शाश्वत है तथा प्रपञ्च में सब कुछ मर्त्य है । यह व्याख्या भी भ्रान्ति (गलतफहमी) उत्पन्न करती है, कि ब्रह्म जड़ है । परन्तु ऐसा नहीं है । ऊपर कहे अनुसार ब्रह्म में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय एकरूप है । यह ब्रह्म देश, काल तथा संयोगों से अनन्त है ।

२.५.२.२ सच्चिदानन्द (सत्, चित्, आनन्द) : ब्रह्म, जिसे निर्गुण अवस्था में ''सत्य, ज्ञान तथा अनन्त'' स्वरूप लक्षण से बतलाया गया है वह अब सर्जनकर्ता का स्वरूप–लक्षण धारण करता है : (६.२.१–१, ऐत १.१.१)'' वहाँ कोई चिड़िया भी उड़ती दिखाई नहीं देती थी । उसने विचार किया, ''मैं सृष्टि का सर्जन करूँ'', (टीप १.७, छांदो ६.२.३, तैत २.६.१) मैं अनेक रूप बनूंगा; मै जन्म लूंगा । तदुपरान्त (टीप ५.४, तैत २.६.१) आगे कहते हैं : ''सत्य ही यह सब बना'' अर्थात् सत्यं ज्ञानं अनन्तम् का ''सत्य'

सत् स्वरुपमें परिवर्तित हुआ । इस प्रकार ''ज्ञान'' से चित् का स्वरूप तथा अनन्त से आनन्द का स्वरूप निर्मित हुआ ।

ब्रह्म के सक्रिय स्वरूप को (८.४.१.९, #२८.७ वृहद् ३.९.२८.७) ''विज्ञानमानन्द ब्रह्म'' अर्थात् ब्रह्म को चित् तथा आनन्द स्वरूप में पहचाना जाता है। (ऐत ३.१.३) ''प्रज्ञानम् ब्रह्म'' अर्थात् ब्रह्म को चित् स्वरूप में जाना जाता है । इस प्रकार निर्विकार ब्रह्म की सत्यं ज्ञानं अनंतम् की त्रिपुटी, सक्रिय ब्रह्म की सच्चिदानन्द त्रिपुटी में परिवर्तित हो जाती है ।

यह आयोजन का स्तर (चरण) है । सर्जन क्रिया को कार्यान्वित करने की तैयारी हो गई है । यह त्रिपुटी ''सच्चिदानन्द'' ब्रह्म का स्वरूप लक्षण ही है, अतः ब्रह्म को सीमित, अज्ञान अथवा दुःखी तथा मर्त्य समझने की भूल न की जानी चाहिये । दैवी प्रेरणा से प्रकट हुई अन्तरात्मा की गहनता की ज्योति से महर्षियों ने प्रकाशित किया है, कि आकाश के दृष्ट बिन्दु से ब्रह्म (सत्) अनन्त है । समय की सापेक्षता में चित् स्वरूप से वह अविनाशी है, तथा परिस्थिति (वस्तु) की सापेक्षता में आनन्द स्वरूप से वह स्वाधीन है ।

सच्चिदानन्द स्वरूप में ब्रह्म की यह अवस्था समष्टि प्राज्ञ अवस्था प्रस्तुत करती है । बीज स्वरूप से अव्याकृत सृष्टि है, यह प्राज्ञ सृष्टि सूक्ष्म सृष्टि में ओतप्रोत है, तथा इसे चारों तरफ से आच्छादित कर देती है । इसके अतिरिक्त सूक्ष्म सृष्टि स्थूल सृष्टि में ओतप्रोत है तथा इसे चारों ओर से आच्छादित कर लेती है । ये तीनों सृष्टि तथा अन्य जो कुछ भी है उन सबका समुदाय, यही यह अक्षर ब्रह्म – विष्णु है ।

सत् : जब सृष्टि–सर्जन का आयोजन कार्यान्वित होता है तब बीज–स्वरूप सृष्टि में से सूक्ष्म–स्वरूप सृष्टि (१.६, आदितत्त्व–२), जो अव्यक्त है (२.६), तथा उस में से पंचीकरण के परिणाम स्वरूप स्थूल सृष्टि पैदा होती है, जो व्याकृत है (२.७) । असत् स्थूल–सृष्टि स्वरूप से व्यवहारिक दृष्टि में वास्तविक जैसा लगता है ।

चित् : ब्रह्म की इस प्राज्ञ अवस्था में भी ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय अभिन्न हैं। इस कारण इसका चेतनत्त्व स्वयं का ही है, तथा स्वयमेव प्रकट होता है, और केवल स्वयं के लिये ही होता है । तदुपरान्त ब्रह्म अखण्ड़ तथा अविभाजित

होने के कारण उसका ब्रह्म में चेतनत्त्व सर्वत्र समान प्रमाण में प्रसारित है । अब प्रश्न है कि इस चेतनत्त्व का कुछ महत्व है या नहीं? प्राकृतिक जगत में इसकी प्रतिक्रिया समझने से इसका महत्व समझ में आयेगा । (टीप १.८ छांदो ६.३.२, टीप ५.४ तैत २.६; ६.२.३#११–१२; ऐत १.३; १.७ बृहद् १.४.७) इन सब में कहा गया है कि ब्रह्म ने जो सर्जन किया है उस सबमें उसने स्वयं प्रवेश किया । तथा जैसा कि (बृहद्[७] ४.३.३०) में बतलाया गया है कि ''ज्ञाता का चेतनत्व कभी क्षय नहीं होता ।'' इस प्रकार ब्रह्म का यह अलौकिक चेतनत्व सभी जीवों में अविरत बहता है । तथा वह विविध स्वरूप धारण करके प्रत्येक जीव में उसकी विशिष्टता के अनुसार अनेक प्रकार का चेतन प्रकट करता है : (६.४, ऐत ३.१.२) ''वह हृदय (बुद्धि) व मन है; वही संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, यूति, स्मृति, संकल्प, विकल्प, काम, मोह आदि है । ये सब (ब्रह्म के) चेतनत्व के ही नाम हैं ।'' (केन १.१.५–६) में स्पष्ट किया गया है कि मानव जाति के विविध अंगों का चेतन भी यही है: ''वह कान का कान है, मन का मन है, वाचा की वाचा है, प्राण का प्राण है तथा आँख की आँख है ।''

हमने ऊपर प्रश्न किया था कि ब्रह्म के चेतन का उपयोग क्या है? अब स्पष्ट होगा कि इसके चेतन से सृष्टि की सभी क्रियाओं का संचालन होता है। उदाहरणतः विद्युत स्वयं प्रकाशित नहीं होती, किन्तु उसकी प्रकाश पैदा करने की शक्ति बिजली के बल्ब द्वारा जानने में आती है । अलौकिक चेतन की चेतना मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि से प्रकट होती है ।

आनन्द : (८.४.१#२८.७, बृहद् ३.१.२८.७) ''विज्ञानं (चित्) आनंदम् ब्रह्म'' ब्रह्मानन्द प्रत्येक जीव में सुख तथा जीवन की आकांक्षा के स्वरूप में प्रकट होता है । यही (आकांक्षा) **चेतनात्मक अस्तित्व** (चित्+सत्) की उत्कंठा प्रकट करती है । उल्कापात भरे संकट में भी राई के दाने जितनी सुख की आशा जीने के लिये प्रेरणादायक होती है । इस प्रकार जीवन तथा आनन्द का प्रवाह एक धारा में बहता है । सुख की आशा की डोरी टूटने पर

---

७. (बृहद् ४.३.३०)

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेविपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तदिद्वतीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ।।३०।।

जीवन भारस्वरूप बनता है तथा व्यक्ति आत्महत्या को प्रेरित होता है । यह दुनियावी आनन्द अनेक उपकरणों पर आधारित है । जैसे–जैसे जीवन आसपास की परिस्थिति तथा विषयों के अवलम्बन से दूर होता जाता है, वैसे–वैसे ही यह आनन्द अलौकिक व निर्विषय आनन्द के समीप पहुँचता है। अवलंबन मुक्त जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का अर्थ स्थल, समय तथा संयोगों से स्वतंत्रता प्राप्त करना – इससे शुद्ध ब्रह्मानन्द सिद्ध होता है ।

२.५.३ मूर्त तत्त्व : आदितत्त्व-१ (क): जिसका प्रारम्भ (जन्म) होता है, उसका अन्त (मृत्यु) भी निश्चित् ही है । इससे विपरीत जिसका अन्त होता है उसका प्रारम्भ भी हुआ होना ही चाहिये ।

सर्जनक्रिया में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई (२.६), इसलिये उसका अन्त भी निश्चित् है । जगत में जो कुछ भी है उसका उद्‌भव इसी में से हुआ है, इसलिये जगत नाशवान है । (१.७, व्याख्या–१) के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है । यह उपसंहार हमने मिट्टी के उदाहरण से किया था (२.१.४); इस मिट्टी के निरीक्षण–१ के अनुसार इसका सामान्यीकरण है ।

२.६ अव्यक्त (सूक्ष्म) सृष्टि, हिरण्यगर्भ : आदितत्त्व–२

(टीप १.७, छांदो ६.२.३–४) सत् कहता है – 'मैं जन्म लूंगा, मैं अनेक बनूंगा।' उसने अग्नि को पैदा किया। अग्नि ने कहा – 'मैं जन्म लूंगी, मैं अनेक बनूंगी।' उसने पानी पैदा किया। पानी कहता है – 'मुझे जन्म लेना हैं, मैं अनेक बनूंगा।' उसने अन्न को पैदा किया।

२.६.१ स्पष्टीकरण : यहाँ आकाश तथा वायु की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं किया गया है । परन्तु (टीप ५.४, तैत २.६) में बताया गया है कि आकाश तथा वायु की उत्पत्ति के पश्चात् अग्नि, पानी तथा अन्न पैदा हुए थे। छान्दोग्य उपनिषद् के इस प्रकरण का विषय मूर्त तत्त्व होने के कारण यह समझा जा सकता है कि यहाँ अमूर्त तत्त्वों (आकाश तथा वायु अमूर्त तत्त्व हैं) का उल्लेख नहीं किया गया है । (ब्र.सू. २.३.१–१० वियतपाद) के अनुसार सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ था । उसका आगे कथन है कि आकाश में से वायु और वायु में से अग्नि पैदा हुई, इत्यादि । ब्रह्मसूत्र का कहना है कि अव्यक्त सर्जन क्रिया (टीप ५.२, तैत २.१.१) में क्रमशः तथा संपूर्ण रूप से

बताई गई है । इसके साथ ही इससे (टीप १.७, छांदो ६.२.३) में आकाश एवं वायु का उल्लेख न होने का स्पष्टीकरण होता है ।

हम (२.५.२.२) में कह चुके हैं कि सृष्टि के सर्जन करने में ब्रह्म ने अपनी माया शक्ति को जगाया । यह माया इस समय ब्रह्म की उपाधिरूप बनी । (भ.गी. ७.१४) ''माया, जो सत्त्व, रजस व तमस गुणों से सुसज्जित है, उसे जीतना अत्यन्त कठिन है, परन्तु जिसे मुझ (ईश्वर) में शरण प्राप्त हो जाती है, वही विजयी होता है (तथा सर्व बन्धनों से मुक्त हो जाता है)''; क्योंकि माया सम्पूर्ण रूप से ईश्वर के आधीन है ।

अब हम पुनः आदितत्त्वों की ओर अग्रसर होते हैं । यहाँ अक्षर ब्रह्म स्वयं आविष्कृत (प्रकट) होते हैं । ''मैं अनेक बनूँगा'', यह इच्छा गौण अर्थ में नहीं है । जैसे कथन ''मुझे भद्रसेन ही समझो'', में अन्य व्यक्ति भद्रसेन की भाँति गुणवान होने का दावा करता है, परन्तु वह वास्तव में भद्रसेन नहीं है । यहाँ जैसे मिट्टी घड़े का रूप स्वयं लेती है, उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं अनेक रूप धारण करता है । तदुपरान्त ब्रह्म में चेतन है, यह भी स्पष्ट है। तथा उसका चेतनत्व अग्नि, जल तथा स्थल में भी विद्यमान है । (ब्र.सू. १.१.५ ईक्षत पाद) बतलाता है कि जड़ वस्तु इच्छा नहीं कर सकती है । इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म उपादान तथा निमित्त कारण भी है । हमने (२.१.६–२) में देखा कि मिट्टी निमित्त कारण नहीं है । प्राण इन अपंचीकृत तत्त्वों के रजगुण से बना है (२.३), जिसमें मानसिक, बौद्धिक तथा क्रिया शक्तियाँ संचरित हैं, इसीलिये इस अवस्था को समष्टि स्वप्न अवस्था कहा जाता है । यही हिरण्यगर्भ है, तथा यही प्रथम उत्पन्न हुआ तत्त्व है । इस प्रकार हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ होने के कारण (आदितत्त्व–१ क) के अनुसार वह नाशवान है ।

२.६.२ ब्रह्म के स्वरूप : प्रत्येक प्राणी की इच्छा मोक्ष प्राप्त करने की होती है । ब्रह्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है । परन्तु यह (ब्रह्म) मन अथवा इन्द्रियों की सामर्थ्य से बाहर है । (टीप ४.५ केन १.३; ७.५.१ मुण्ड ३.१.८; टीप ५.३ तैत २.४.१) । इस प्रकार अगम्य होने के कारण ही (८.३.१.२#६, बृहद् २.३.६) इसकी ''नेति–नेति'' द्वारा व्याख्या की जाती है । इसके साथ ही यह भी हमने देखा कि प्राकृतिक जगत की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है । तो फिर स्थूल वस्तुओं के सहारे सूक्ष्म, अधिक सूक्ष्म तथा अन्त में निर्गुण तत्त्व

तक क्यों नहीं पहुँचा जा सकता ? (भ.गी. १५.१) में कहा गया है कि ''यह प्रपञ्च वृक्ष उल्टा लटकाया हुआ है, जिसका मूलरूप (निर्गुण) ब्रह्म ऊपर की ओर है तथा शाखा स्वरूप प्रपंच नीचे है ।'' हमें मूल तक पहुँचना है ।

ऊर्ध्व गति करते हुए गलत मार्ग की ओर अग्रसर न हों, इसके लिये (केन[८] २.१) हमें चेतावनी देता है : ''यदि यह मान लिया जाय कि ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है, तो कदाचित् ब्रह्म का जो स्वरूप मानवों में अथवा उससे थोडा उत्कृष्ट स्वरूप देवताओं में है उसी का साक्षात्कार हुआ हो, ऐसा हो सकता है ।'' श्रुति कहती है कि एक छोटे से तिनके से लेकर हिरण्यगर्भ तक ब्रह्म की शक्ति तथा भव्यता विविध प्रमाण में होती है, तथा यह इन्द्रियगम्य होने के कारण ऊर्ध्वगति होना संभव है । श्रुति कहती है कि प्रापंचिक अवस्था में ब्रह्म के एक से एक दिव्यतर स्वरूप का साक्षात्कार हो सकता है और ब्रह्म की ज्योति के सान्निध्य में उससे भी आगे पहुँचा जा सकता है । उदाहरण स्वरूप सनत्कुमार ने देवर्षि नारद को ब्रह्म के एक से एक दिव्यतर २३ स्वरूपों के दर्शन कराये, और अन्त में ब्रह्म ज्ञान दिया (४.२, छांदो ७) । कदाचित् इस जीवन में इस सर्वोच्च कक्षा तक न पहुँचा जा सके तो भी इतना फल तो मिलेगा ही कि (आदितत्त्व ४), (भगी ६.४०) ''न हि कल्याणकृत कश्चित–दुर्गतिं तात गच्छति ।'' कल्याणकारी काम करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को नहीं जाता । तदुपरान्त (भगी ६.४१–४४) के अनुसार इस कल्याणकृत को प्रगति करने हेतु अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं ।

२.७ व्याकृत सृष्टिः आदितत्त्व ३ :

(टीप ५.१.८, छांदो ६.३.३) ''मैं इन सब (अव्याकृत महाभूतों) को त्रिवृत्त तथा त्रिवृत्त करूँगा । इस देव (सत्) ने इन तीनों देवों (अग्नि, जल, पृथ्वी) में आत्मा रूप से प्रवेश किया तथा उन्हें नाम–रूप से प्रकट किया।'' इन्होंने अपना चेतन प्राण द्वारा मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को अर्पित किया । स्वयं केवल दृष्टा रहे ।

---

८. (केन २.१)
यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।।१।।

२.७.१ त्रिवृत्तीकरण : त्रिवृत्तीकरण के सिद्धांत के अनुसार आदितत्त्व–२ में पैदा हुए अव्याकृत तीन महाभूत एक दूसरे में संमिश्रित हुए तथा नाम रूप वाला व्याकृत जगत अस्तित्व में आया। इस आदितत्त्व में बताया हुआ त्रिवृत्तिकरण इस प्रकार है : प्रत्येक तत्त्व में दूसरे दो तत्त्वों का १/९ भाग मिलाया गया, इससे अब प्रत्येक तत्त्व में स्वयं का २/३+१/९ भाग शेष रहा । इससे अग्नि, जल व स्थलवाली दृष्टिगम्य सृष्टि का आविर्भाव हुआ । इनका एकीकरण, संयोजन तथा विविध प्रमाण में हुए संमिश्रण के कारण जगत अनेक परिमाण तथा आकार में प्रकट हुआ । इन्हें अलग–अलग नाम दिये गये, इस प्रकार नामरूपात्मक सृष्टि का सर्जन हुआ। यह समष्टि–सृष्टि की जाग्रत अवस्था है (टीप ८.२, बृहद् २.१.२०; ७.२.२, मुण्ड १.१.७) । जैसे एक मकडी के जाले में बाहरी तत्त्व नहीं होते, तथा मकडी स्वयं ही उसे बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म ने भी स्वयं ही स्वयं में से स्वयं का सर्जन किया ।

२.७.२ पंचीकरण : हम (२.३ तथा २.५) में इसका उल्लेख कर चुके हैं, अब इसकी विस्तार पूर्वक चर्चा करेंगे ।

हमने (२.६.१) में बताया है कि (टीप ५.२ तैत २.१) में अव्याकृत पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । इसमें पंच कोषों का उल्लेख है तथा (टीप ५.४ तैत २.६) में कहा गया है कि ब्रह्म में से ही सत् व त्यत्, निरुक्त व अनिरुक्त, जड़ और चेतन इत्यादि उत्पन्न हुए हैं । इसमें प्रत्यक्ष तथा परिच्छिन्न जगत् कैसे बना, इसका उल्लेख नहीं है । जब कि (१.८, छांदो ६.३) में बताया है कि यह प्रत्यक्ष व परिच्छिन्न जगत त्रिवृत्तिकरण से बना है । इसका विषय मूर्त तत्त्वों से बना होने के कारण इसमें अमूर्त तत्त्वों का उल्लेख नहीं है । इसके समाधान में श्रीमद् शंकराचार्यजी ने ''पंचीकरण'' (पंचीकरणम्, श्री शंकराचार्य, अद्वैत आश्रम, ५ नई दिल्ली रोड, कलकत्ता–७०००१४ (१९९७)) नाम का एक छोटा सा प्रकरण ग्रंथ लिखा है, जिसके प्रथम मंत्र में विराट की व्याख्या की गई है: ''पाँच महाभूतों के पंचीकरण से उत्पन्न हुए सर्व पदार्थों एवं उनके (संयोजन के) परिणामों के समूह को विराट कहते है ।'' दूसरे मंत्र में वे हिरण्यगर्भ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह पंचीकरण पहले के पाँच तन्मात्रा में से आविष्कृत है । उनके

शिष्य श्रीमद् सुरेश्वराचार्यजी का वार्तिक इसी पुस्तक में प्रकट हुआ है । इसमें पंचीकरण की क्रिया इस प्रकार समझाई गई है । ''प्रत्येक महाभूत के दो समान भाग करें, उनमें से एक भाग को चार समान भागों में विभाजित करें । अब इन चार भागों को अन्य चार महाभूतों के विभाग के साथ इकट्ठा करें । इस प्रकार प्रत्येक महाभूत में ५०% स्वयं है तथा १२.५% शेष प्रत्येक चार महाभूतों के अंश समाये हुए हैं । इस प्रकार त्रिवृत्तिकरण को पंचीकरण का उपलक्षण कहा जा सकता है ।

ब्रह्मसूत्र (ब्र.सू. २.४.२०–२२) में श्रीमद् शंकराचार्यजी ने इस विषय की चर्चा की है, जिसमें केवल त्रिवृत्तिकरण का ही उल्लेख हैं । इन्हीं सूत्रों का श्रीमद् आनन्दगिरी जी की टीका में भी इसी प्रकार का उल्लेख है ।

२.७.३ सृष्टि का सर्जन (छांदो ६.४) : त्रिवृत्तीकरण द्वारा सर्जन की गई नाम–रूपात्मक परिच्छिन्न सृष्टि का वर्णन(२.५.२.१ छांदो[९] ६.४.६–७): आधिदैविक तत्त्व अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत आदि में जो लाल रंग दिखाई देता है वह सूक्ष्म (त्रिवृत्तिकरण पूर्व की) अग्नि का है; सफेद रंग सूक्ष्म जल का तथा काला रंग सूक्ष्म जमीन का है । इसी प्रकार ये नाम रूप पैदा करने की क्रिया में ही आधिभौतिक स्वरूप, जैसे कि वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, पत्थर तथा हीरा–माणिक आदि, तथा आध्यात्मिक संदर्भ में प्रत्येक प्रकार के चेतन तत्त्व पैदा हुए । अब इस विषय का उपसंहार करते हैं – (छांदो[९] ६.४.६–७) (परिच्छिन्न पदार्थों में) ''जो लाल रंग दिखाई देता है वह सूक्ष्म अग्नि का है, जो सफेद रंग दिखता है वह जल का, तथा जो काला रंग है, वह अन्न (पृथ्वी) का है । इसके अतिरिक्त जो अज्ञात पदार्थ हैं वे भी इन तीन मूलभूत तत्त्वों से ही उद्भवित हैं ।'' इन दैवी जड़, चेतन तत्त्वों के समूह को विराट कहते हैं, तथा सूक्ष्म तत्त्वों के समूह को हिरण्यगर्भ कहते हैं, जो विराट का सूक्ष्म शरीर है ।

---

९. (छांदो ६.४.६–७)

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाँ रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णामिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ।।६।।

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाँ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा न खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ।।७।।

इस नाम–रूपात्मक प्राकृतिक जगत में द्वैत का वास्तविक रूप में आभास होता है (टीप ८.५ बृहद् २.४.१४) । जहाँ एक दूसरे को देखा, सुना या जाना न जा सकता हो, ऐसे अव्याकृत जगत में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान अभिन्न हैं (२.५.२); इसके विपरीत द्वैत जगत में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान की भिन्नता स्पष्ट है ।

२.७.४ समय-काल का प्राकट्यः त्रिवृत्त (पंचीकृत) क्रिया से पूर्व समय का अस्तित्व ही न था । समय का आविर्भाव इस क्रिया के उपलक्षण के रूप में हुआ । इस क्रिया से दैविक तत्त्व जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारों तथा निहारिकाओं ने गोलाकार अथवा अण्डाकार रूप लिया, और अपने वृन्द में छोटी आवृत्तियाँ बडी आवृत्तियों की परिभ्रमण करने लगीं । (५.२.५ तैत २.८) ''इसके (ब्रह्म के) डर से हवा चलती है, सूर्य उगता है, अग्नि, इन्द्र तथा यम मर्यादित रहते है'' (कठ २.३.२–३) ''इस प्रकार सर्जित सभी सृष्टियाँ ब्रह्म को, विद्युत के समान भयंकर विनाशक आयुधों से सुसज्जित समझती हैं, तथा उसके डर से वे नियमित रूप से भ्रमण करती हैं, उसके डर से ही अग्नि प्रकट होती है, सूर्य प्रकाशित होता है, इन्द्र, वायु तथा पाँचवा यमराज कर्तव्यनिष्ठ रहते हैं ।'' दैवी आवृत्तियों की परिभ्रमण तथा परिक्रमण क्रियायें अत्यन्त नियमित हैं । यह सब नियन्ता के ही कारण हो रहा है । इस असंदिग्ध नियमितता से दिन–रात, महिने एवं वर्ष की गिनती होने लगी, जिससे हमें वृद्धावस्था प्राप्त होती है, तथा हम मृत्यु की ओर अग्रसर होते हैं। यह काल का भयानक पंजा सर्जित हुए प्रत्येक पदार्थ पर पड़ता है । हिरण्यगर्भ तथा विराट भी सर्जित हुए तत्त्व होने के कारण वे भी इस भयंकर काल के चक्कर में फँसे हुए हैं । उनका भी अन्त अनिवार्य है । इसी कारण आदितत्त्व–१ (क) कहता है, ''जिसका आदि है, उसका अन्त भी होता है'' (२.५.३) ।

ब्रह्म अनादि है, अतः काल के क्षेत्र से बाहर है (२.५.१) । वही शाश्वत है । अन्य सभी आवृत्तियों का सर्जन हुआ है तथा वे काल के क्षेत्र में आती हैं (भ.गी. १५.६) : ''वहाँ सूर्य, चन्द्र, तारे अथवा बिजली चमकती नहीं है, इन्हीं के प्रकाश से ये सभी चमकते हैं ।'' ब्रह्म देश, काल व निमित्त से स्वतन्त्र होने के कारण शाश्वत है, अतः वही (निरपेक्ष) सत्य है (१.७,व्याख्या–१); बाकी सब असत्य है । इस प्रकार ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है ।

२.७.५ विवर्त या परिणाम : बहुत से विद्वान् महंत सर्जन को रज्जु–सर्प के समान भ्रम (विवर्त) अर्थात् देखने मात्र को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं, वहीं अन्य विद्वान् महन्त सर्जन को वास्तविक मानते हैं तथा उसे ब्रह्म की अद्‌भुत सर्जनशक्ति कह कर उसका मान बढाते हैं । इस को परिणाम वाद कहते है ।

विवर्तवाद : ब्रह्म के लक्षण, जैसे कि एक एवं अद्वितीय, अविभाज्य, अचल इत्यादि का उल्लेख शास्त्र में बारम्बार हुआ है । यदि यही सत्य हो तो ब्रह्माण्ड की अनेक दैविक प्रचण्ड विभूतियाँ, जैसे कि सूर्य, चन्द्र, निहारिकायें आदि एक दूसरे से अत्यधिक दूर हैं, तथा ये नियमित रूप से अविरत परिभ्रमण व परिक्रमण करते रहते हैं यह सब कैसे संभव है? इसलिये इस सब से सहज रूप से यही आभास होता है कि समस्त सृष्टि स्वप्न के समान विवर्त ही होगी । रज्जु–सर्प के उदाहरण से भी विवर्तवाद स्पष्ट प्रतीत होता है ।

इस वाद को स्पष्ट रूप से समझने के लिये चित्रपट का उदाहरण लेते हैं : चित्रपट हिमकणों के समान श्वेत तथा दाग रहित होता है । उसके ऊपर जब कोई भयंकर युद्ध का दृश्य दिखाया जाता है, तो चित्रपट अत्यन्त मलिन व रक्त के दागों से भरा हुआ दिखाई देता है । इस पर घायल व मृत देहों को देखकर कोमल हृदयवाले व्यक्ति डर जाते हैं, तथा कभी–कभी तो रोने भी लग जाते हैं । यह दृश्य समाप्त होने पर चित्रपट पूर्व की भाँति पुनः हिमकण समान श्वेत रंगी तथा दाग रहित दिखाई देता है । मजबूत हृदयवाले व्यक्ति को पता होता है कि चित्रपट के अधिष्ठान पर कल्पित युद्ध का प्रदर्शन किया जा रहा है, यह वास्तविक नहीं है । कोमल हृदयवाला व्यक्ति कुछ क्षणों के लिये अधिष्ठान को भूलकर इसे वास्तविकता समझ बैठता है । हमारी भी यही स्थिति है । ब्रह्म के अधिष्ठान पर सृष्टि के चित्र अपना शोर–बकोर मचा रहे हैं। ब्रह्मज्ञानी इसे भली प्रकार जानते हैं । हमारे जैसे अर्धज्ञानी अथवा अज्ञानी सृष्टि के इस प्रकोप (tumultuous) को वास्तविक मानकर सुख–दुःख में झोले खाते (भटकते) रहते हैं । हम भूल जाते हैं कि ब्रह्म के चित्रपट पर यह एक प्रकार का चलचित्र मात्र चल रहा है । जीवन मुक्त व्यक्ति (२.८.१) से यह भूल नहीं होती । क्योंकि सापेक्ष जगत के उथलपुथल में उसे ब्रह्म के अधिष्ठान का स्पष्ट खयाल रहता है । वह तो निरपेक्ष ब्रह्म को ही वास्तविक मानता है ।

परिणामवाद : बहुत से अद्वैतवादी सर्जन को वास्तव में ब्रह्म का विकार मानते हैं । जो सर्जन को परिणाम रूप में समझते हैं, उनका दृष्टिबिन्दु इस प्रकार है – एक तो हमारे आदितत्त्व–२ व ३ सर्जन के वास्तविक होने का आभास कराते हैं । सर्जन को (टीप १.७ छांदो ६.२.३, टीप ५.४ तैत २.६; ७.३.१ मुण्ड २.१.३–१०) में विविध प्रकार से समझाया गया है ।

वे श्रीमद्भागवत पुराण के आख्यान की चर्चा करते हैं : सर्जन के लिये परम पुरुषोत्तम श्री भगवान ने अपनी माया शक्ति तथा सर्जन शक्ति को जाग्रत किया । इनके संयोग से विक्षेप एवं विकृति पैदा हुई तथा अशुद्धि, विकार आदि प्रकट हुए । यहाँ तक कि वे तो (बृहद् ५.१.१) ''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते'' का भी उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्म की अनन्तता में अगणित अनन्ततायें गुंथी हुई हैं, तथा यह आवश्यक है, एवं सनातन है । (कठ २.२.१३) ''वह अनित्यों में नित्य एवं चेतनायुक्तों में चेतन है ।'' ब्रह्म ने अपनी लीला करने हेतु ही इस सृष्टि का सर्जन किया है । फिर इसे मिथ्या अथवा विवर्त कैसे कहा जा सकता है?

वे एकता में विविधता तथा हलचल को समझाने हेतु एक विशाल महालय का उदाहरण देते हैं : महालय तो एक मात्र एवं (सापेक्ष रूप से) अचल है । परन्तु इसमें विभाग कर सकते हैं, तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है । ब्रह्म इसी प्रकार है, उसमें अद्वितीयता की हानि नहीं है। इसकी स्पष्टता करने के लिये दूसरे उदाहरण में वे महासागर का स्वरूप बतलाते हैं । इसके ज्वार, लहरें, बुलबुले तथा झाग एक दूसरे की सापेक्ष अपनी विशिष्टता बनाये रखते हैं । ये सब महासागर के ही विकार हैं, तथा वे महासागर से भिन्न नहीं हैं । इन विकारों में दिखाई देती सूक्ष्म तरंगें वास्तव में पानी का हलनचलन नहीं है; इसीलिये महासागर की अखण्ड़ता, अविचलता तथा अद्वैतता को कोई हानि नहीं होती । इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में दिखाई देती विशाल निहारिकायें तथा उनमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि ब्रह्म के विकार ही हैं तथा वे महासागर के ज्वार, लहरों बुलबुले अथवा झाग की तरह ही हैं । इसीलिये ब्रह्म की अखण्ड़ता, अविचलता अथवा अद्वैतता को कोई आँच नहीं आती ।

आलोचन : ऊपर दिये गए दो परस्पर विरोधी कथनों से यह कहा जा सकता है कि कहीं कोई भूल तो नहीं हो गई है । पर ऐसा नहीं है । यह तो मन की स्थिति मात्र है । श्रुति भी, दरअसल, इसी प्रकार बतलाती है कि सर्जन वास्तविक है, और इसे विवर्त या असत् समझना कठिन है । इसका कारण यही है कि चित्रपट की तरह दर्शाया गया ब्रह्म, जो सृष्टि का अधिष्ठान है, अज्ञात रहता है । मन की स्थिति के कारण किसी बिरले को ही इस अधिष्ठान की प्रतीति हो सकती है । जीवनमुक्त को इस अधिष्ठान रूपी ब्रह्म के दर्शन होते हैं । उसके लिये सृष्टि का अस्तित्व नहीं रहता है । जिस प्रकार अंधेरे में आभास हुए सर्प का अस्तित्व प्रातःकाल होने पर नहीं रहता, प्रातःकाल खाली रस्सी ही दिखाई देती है, तथा आभासित सर्प का अवशेष भी दिखाई नहीं देता । उसी प्रकार जीवनमुक्त की दृष्टि से जगत मिथ्या है (१.७ व्याख्या–३; २.८.१) । श्रुति परिणामवाद द्वारा हमें स्थूल में से सूक्ष्म तथा अति–सूक्ष्म तत्त्व की झाँकी कराना चाहती है । उदाहरणतः (५.३ तैत–३) में महर्षि वरुण अपने पुत्र भृगु को अन्नमय कोष से प्रारम्भ कर, अन्त में उच्चतम कोष, आनन्दमय कोष का ज्ञान कराते हैं । (४.४ छांदो ८.७) में प्रजापति इन्द्र को जाग्रत अवस्था का ज्ञान करवा कर सुषुप्त अवस्था, तथा इससे आगे तुरीय अवस्था का ज्ञान अर्पित कर अद्वैत का ज्ञान कराते हैं । इस प्रकार इन्द्र तथा वरुण दोनों परिणामवाद से ऊपर उठ कर विवर्त तक पहुँचते हैं (४.२ छांदो ७) । देवर्षि नारद भी इसी प्रकार प्रगति करते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्न ''अवास्तविक (मरीचिका)'' है । वास्तव में तो यह अज्ञान है । जाग्रत अवस्था में ही यह अवास्तविक माना जा सकता है, स्वप्नावस्था में तो यह वास्तविक ही है । जब भयंकर स्वप्न आते है, तब अनायास ही चीख निकल जाती है, तथा सुन्दर–रमणीय स्वप्न देखते हुए मुख मण्डल पर कान्ति आ जाती है । इस सब को अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है? अब एक अन्य उदाहरण में जाग्रत अवस्था पर विचार करें – एक अत्यन्त धनवान व्यक्ति के विषय में चर्चा करते हैं, जो अत्यन्त धर्मिष्ठ भी है । इसके पास अनेक स्थानों पर वैभवशाली भवन, अनेक कारें तथा हेलीकोप्टर भी है । जब यह व्यक्ति प्राण त्यागता है, तो अपने पृथ्वी पर के जीवन को क्या कहेगा? मात्र एक सुन्दर स्वप्न (मरीचिका) !!

अब इस चर्चा–विचारणा का निष्कर्ष निकालते हैं । (अज्ञानी के लिये) वर्तमान में जो हो रहा है, उसी को सत्य माना जाता है । जब समय व अवस्था में परिवर्तन होता है, तब नया सत्य सामने आता है, तथा पुराना सत्य स्वप्न के समान लगता है । इस प्रकार हमारी दृष्टि के द्वारा हम सापेक्ष सत्य को ही देख सकते हैं । हमने (१.७, व्याख्या–१) में सत्य को अविचल कहा था, तथा विचलित घटनाओं को असत्य कहा था । वास्तव में तो निरपेक्ष सत्य ही अविचल, अखण्ड़ तथा शाश्वत है । पूर्व में बताया, उसके अनुसार अधिष्ठान का खयाल न होने से इस प्रकार की भ्रमणायें होती हैं । ब्रह्मज्ञानी को यह ज्ञान होता है, कि अधिष्ठान रूप ब्रह्म ही है, इसलिये उसकी दृष्टि में जगत मिथ्या है। इसके अतिरिक्त हमने यह भी देखा कि श्रुति हमें अज्ञान के अंधकार से निकाल कर ज्ञान का प्रकाश अर्पित करके वहाँ तक ले जाती है जहाँ कुछ देखा, सुना या समझा नहीं जा सकता (टीप ४.२, छांदो ७.२४.१) । अतः हम प्रार्थना करें : (८.२#२८ बृहद् १.३.२८)

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

२.७.६ शरीर में ब्रह्म का प्रवेश : आदितत्त्व–३ के अनुसार ब्रह्म ने तीनों देवों (अग्नि आदि) में प्रवेश किया । ब्रह्म का प्रवेश इतने तक ही मर्यादित न था, पंचीकरण से जो कुछ पैदा हुआ उन सभी में ब्रह्म का प्रवेश हुआ है । (टीप ५.४, तैत २.६) में इसे स्पष्टतापूर्वक बतलाया गया हैं : ''जो कुछ है उसका सर्जन उसने चिन्तन से किया । प्रत्येक सर्जित तत्त्व में स्वयं ही मूर्त तथा अमूर्त, स्पष्ट तथा अस्पष्ट, जड़ तथा चेतन आदि बने ।'' (६.२.३#१२ ऐत १.३.१२) मानवों में ब्रह्म का प्रवेशद्वार सुस्पष्ट करता है : ''वे आत्म स्वरूप से विद्रुति (सहस्रार चक्र) द्वारा प्रविष्ट हुए ।''

आत्मा कर्ता नहीं : (टीप ३.३, ८.५.३#७ बृहद् ४.३.७) में श्रुति इसका विश्वास दिलाती है : ''आत्मा, अर्थात् हृदय की ज्योति को ही बुद्धि माना जाता है । बुद्धि के समकक्ष समझी जानेवाला आत्मा ही दो संसारों (इस लोक व परलोक) में भटकता हुआ माना जाता है । वह ही (मन की तरह) विचार करता प्रतीत होता है, वही (शरीर की तरह) कम्पन करता प्रतीत होता है ।'' इस प्रकार जो कुछ भी सूक्ष्म शरीर के कार्य हैं, वे सब आत्मा ही करता

है, ऐसी मान्यता है (यह सही नहीं है) । सूक्ष्म शरीर के इन कर्तव्यरत अंगों के समूह को जीव (१.७#४) कहते हैं । इस प्रकार आत्मा एवं जीव की भिन्नता स्पष्ट होती है । जिस प्रकार विद्युत के संचार से विद्युत–बल्ब प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा के चेतन से ही जीवन में चेतना का स्फुरण होता है । मुण्डक व कठ उपनिषद् में (७.५.१ मुण्ड ३.१.१; कठ १.३.१) इसे दो पक्षी के रूप में कहा गया है (हृदयस्थ) । (६.४.१#१ ऐत ३.१.१) प्रश्न उठाता है : ''इन (दो पक्षियों में से) जिसकी आत्मा के रूप में उपासना की जाती है वह कौन है? क्या वह वो है कि जिससे सुना, देखा, बोला अथवा स्वाद लिया जा सकता है?'' इसका उत्तर 'हाँ' में है, जो (२.६.२ केन १.२) से स्पष्ट होता है, ''जो श्रोत्र का श्रोता है, जो मन का मन है, जो वाचा में वाणी है, जो आँखों को दृष्टि देता है, जो प्राणों का प्राण है, उसे जानने वाला शाश्वत–अमृत प्राप्त करता है ।'' आत्मा के चेतन से प्राण, मन, बुद्धि तथा सभी इन्द्रियों में चेतन का संचार होता है । जिस प्रकार विद्युत की शक्ति से प्रकाश, गरमी, ठंड़ी आदि उनके साधनों द्वारा ही प्राप्त होते हैं, साधनों की अनुपस्थिति में विद्युत स्वयं ये कार्य करने में असमर्थ होती है । इसके अतिरिक्त यदि साधन बिगड़ जाय तो इसमें विद्युत प्रवाह का दोष नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा केवल उद्दीपक (catalyst) (शक्तिस्रोत) है । वह स्वयं कार्यशील नहीं होती, तथा जीव के दोष इसे प्रभावित नहीं करते । जैसे पृथ्वी पर की प्रत्येक हलचल का कारण सूर्य है, किन्तु पृथ्वी पर के दोषों का परिताप सूर्य को नहीं लगता ।

२.८ फलप्राप्ति : आदितत्त्व-४

प्रारम्भिक सूचनायें (निर्देश) : (टीप ७.२, मुण्ड़ ३.२.४) के अनुसार प्रभु का मार्ग शूरवीरों का है, यहाँ कायर का काम नहीं है (वीरों की ये बाट है भाई, कायर का नहीं काम रे!) अर्जुन की भाँति हमारे मन में भी प्रश्न उठता है (भ.गी. ६.३७) कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से पहले ही यदि शरीर छूट जाता है, तो क्या गति होती है? यह प्रश्न कर्म के सिद्धान्त का मूल है ।

कर्म का सिद्धान्त : निरीक्षण–५ (२.४ अ) को यहाँ आगे बढाते हैं । भगवान श्रीकृष्ण निश्चयात्मक बोध कराते हैं (भ.गी. ६.४०–४५) ''योगभ्रष्ट

की कभी दुर्गति नहीं होती । वह या तो पवित्र तथा धनवान कुटुम्ब में जन्म लेता है, अथवा पुण्यलोक (स्वर्गलोक... सत्यलोक) में फल भोग कर नये कर्मों के लिये पुनर्जन्म लेता है । इन्द्रियों के चक्कर में फँसा हुआ व्यक्ति उसके अनुरूप लोक में ही फल भोगता है ।'' इसका आशय यह है कि पुण्य कर्म हों अथवा पाप, उनका फल भोगना ही पड़ता है । जिन कर्मों का फल इस जीवन में न भोगा हो, वे संचित कर्म बनते हैं, तथा उनके भोगने योग्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर वे प्रारब्ध बन कर नये जन्म को प्राप्त होते हैं । कई बार देखने में आता है कि बहुत से बालक अल्प वय में ही विज्ञान, शास्त्र, संगीत व अन्य कलाओं में निपुणता दर्शाते हैं, वहीं अन्य कुछ बालक जन्म से ही विकलांग अथवा मन्दबुद्धि होते हैं । बहुत से पृथ्वी पर ही स्वर्ग जैसे आनन्द का भोग करते हैं, वहीं अन्य बहुत से बालकों को खान–पान व रहन–सहन आदि की भी समस्या होती है। इस विषमता में प्रारब्ध कर्म ही महत्व का भाग भजते हैं ।

ब्रह्मज्ञानी (जीवनमुक्त) को कर्म का सिद्धान्त अवरोधक नहीं बनता, क्योंकि ज्ञानी के सभी कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं (भ.गी. ४.३७), (टीप ७.५, मुण्ड ३.२.९) ''ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।''

परलोक गमन की पूर्व तैयारी : परलोक गमन की पूर्व तैयारी ज्ञानी तथा अज्ञानी – दोनों के लिये समान ही है । (टीप १.९, छांदो ६.१५.२) वाचा (दश इन्द्रियों की कार्यशक्ति) मन में, मन प्राण में, प्राण अग्नि में, तथा अग्नि आत्मा में लय हो जाती है । यह सुषुप्त अवस्था है । इसके पश्चात् क्या? अब इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करते है :

२.८.१ ब्रह्मज्ञानीः आदितत्त्व-४ (अ):(३.३.१ प्रश्न ६.५; टीप १.१०, बृहद् ४.४.६; टीप ७.४,मुण्ड ३.२.७–९) जीवनमुक्त किसी मार्ग का अनुसरण नहीं करता । वह शोक रहित होकर मृत्यु के पश्चात् अमर होता है ।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि जीवनमुक्त के सभी कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं । यदि ऐसा न हो तो संचित कर्मों के कारण उसे पुनः जन्म लेना पड़ सकता है ।

मृत्यु के समय उसका शरीर तो भूमि में मिल जाता है, पर सूक्ष्म शरीर की क्या स्थिति होती है? सूक्ष्म शरीर ही जीव की सभी क्रियाओं का कारण

है । यदि उसका लय न हो तो वह पुनः क्रियाशील हो जाता है – तथा नये जन्म का कारण बनता है । अतः अमरत्व कैसे कहा जा सकता है? ''उसकी पंद्रह इन्द्रियाँ अपने–अपने कारणरूप देव में लय हो जाती हैं (टीप ७.३ मुंड ६.२.७) । उसका आत्मा–परमात्मा में लीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म बन जाता है, वह शोकरहित तथा शाश्वत बन जाता है।

जीवनमुक्त की स्थिति : ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भी वह जीवित रह कर भौतिक व्यथा क्यों भोगता है? (छांदो ६.१४.२) ''उसके लिये इतनी ही देरी है कि वह (शरीर से) स्वतन्त्र बने ।'' ऐसे तो उसके सभी संचित कर्मों का नाश हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों का तो भोगने पर ही निवारण हो सकता है । जैसे बन्दूक से निकली गोली वापस नहीं ली जा सकती, उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों को वापस नहीं लिया जा सकता । इससे कौतूहल होता है कि यह जीवन मुक्त किस स्थिति में बाकी का जीवन व्यतीत करता है? प्रथम तो सुषुप्त अवस्था की (२.४) स्थिति को जानें ।

सुषुप्त अवस्था में इन्द्रियाँ तथा मन निवृत्त हो जाते हैं । इस समय स्वप्न भी नहीं आते, इसलिये ऐहिक वृत्ति पूर्ण रूप से विश्राम में रहती है । इस स्थिति को – ''जीव आत्मा में विश्राम लेता है'', इस प्रकार कहा जाता है । यह अवस्था क्षणजीवी है, क्योंकि सुषुप्त अवस्था की समाप्ति होते ही ऐहिक (इस लोक के) व्यवहार प्रारम्भ हो जाते हैं । सुषुप्त अवस्था से निवृत्त होते ही जीव कहता है, ''मैं शुद्ध आनन्द का अनुभव कर रहा था, तथा मुझे दुनिया की कुछ भी खबर नहीं थी ।'' परन्तु उसे इस बात का ज्ञान नहीं है, कि वह स्वयं आत्म–ऐक्यता (आत्मा के साथ एकता) प्राप्त कर रहा था । यह ब्रह्मज्ञान जैसा कुछ भी नहीं है । ब्रह्मज्ञान ऐसा क्षणिक नहीं होता है ।

इसके विपरीत, ब्रह्मज्ञानी जाग्रत अवस्था में भी आत्म–ऐक्यता में ही स्थित रहता है । इसका कारण है : (टीप ३.१, कठ २.१.१) ''परमेश्वर ने इन्द्रियों की इस प्रकार रचना की है कि वे अंतरात्मा को देखने की जगह केवल बहिर्मुखी ही रहती हैं । कोई तीक्ष्ण विवेक बुद्धि वाला बिरला ही अंतरात्मा को दृष्टि में रखता है ।'' अमरत्व की इच्छा रखने वाला वह तीक्ष्ण विवेक बुद्धि वाला ब्रह्मज्ञानी कोई निराला ही होता है, इसलिये वह निरन्तर (अविरत) अंतरात्मा के साथ जुड़ा रहता है । दुनियावी व्यवहार करते हुए भी

उसकी अन्तरदृष्टि भंग नहीं होती । वह जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में भी सुषुप्ति का आनन्द प्राप्त करता है । उसके लिये विदेह मुक्त होने में इतनी ही देरी रहती है कि उसके प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाँये ।

२.८.२ अज्ञानी व्यक्ति : आदितत्त्व–४ (ब) : (टीप १.११, छांदो ५.१०.१–२; ८.५.४ बृहद् ४.४.२; भ.गी. ८.६, २४, २५; टीप ७.१, मुण्ड ३.२.२; प्रश्न ३.६, ७, १०)

अज्ञानी अपने कर्मों के अनुसार निम्नलिखित तीन में से एक गति को प्राप्त होता है : १. उत्तर मार्ग (देवयान); २. दक्षिण मार्ग; तथा ३. जन्म मरण के चक्कर । यह (१.६, निरीक्षण–५) की स्पष्टता करता है ।

अज्ञानी का देह त्याग : हमने (२.८) में देह–त्याग के लिये पूर्व तैयारी का वर्णन किया है । यह जीव तीन में से एक मार्ग की ओर अग्रसर होता है। (भ.गी. ८.६; प्रश्न ३.१०) उस समय (देह त्याग के समय) के विचारों सहित जीव प्राण में प्रवेश करता है । उदान जीव को वांछित लोक की ओर ले जाता है । (कठ २.३.१६) के अनुसार जो जीव विद्रुति (ब्रह्मरंध्र) द्वारा प्रयाण करता है वह (सापेक्ष) अमरत्व प्राप्त करता है । उसे क्रममुक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव है । अन्य नौ द्वारों में से निकलने वाले जीवों का पुनर्जन्म निश्चित् होता है । निश्चित् स्थान पर पहुँचने से पूर्व जीव अनेक लोकों में से गुजरता है । प्रत्येक लोक के अतिवाहिक देवता जीव को लेकर जाते हैं । सम्पूर्ण मार्ग निम्न प्रकार से है । उसके लिये निर्दिष्ठ स्थान पर पहुँचने पर उसकी गति रुक जाती है ।

१. उत्तर मार्ग (देवयान) : (टीप १.११, छांदो ५.१०.१–२) भक्ति (उपासना) अथवा भक्ति सहित कर्म करनेवाले को यह मार्ग उपलब्ध होता है। जीव को प्रथम अर्चि (ज्वाला) के देवता द्वारा दिवस के देवता को, तथा वहाँ से शुक्लपक्ष के देवता को, और उसके बाद, जो ६ महिने का देवता उत्तरायण की ओर प्रयाण करता है, उसके सुपुर्द किया जाता है । तत्पश्चात् वर्ष, देवलोक, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा विद्युत के देवता उसे प्रयाण कराते हैं । वहाँ से अमानवी पुरुष अधिकारी जीव को हिरण्यगर्भ के लोक में ले जाते हैं, इससे पूर्व वह वरुण, इन्द्र तथा प्रजापति के लोक में से गुजरता है । जीव मन की गति के समान तीव्र गति से अपने निर्दिष्ठ स्थान पर पहुँचता है। इस मार्ग में

महः, जन, तप लोक आते हैं । हिरण्यगर्भ लोक (ब्रह्मलोक) ही सत्य लोक है। इस मार्ग से जाने वाले को क्रमिक मुक्ति प्राप्त होने की संभावना रहती है। यदि ऐसा होता है, तो वह पुनर्जन्म से बच जाता है । जो पुनर्जन्म के पात्र होते हैं, उनके लिये प्रस्थानत्रयी वापस आने का मार्ग नहीं बतलाती।

यहाँ बताया हुआ मार्ग (छांदो ५.१०.१–२; ८.६.५ बृहद् ५.१०.१; ६.२.१५ कौषी १.३) के समन्वय से लिया गया है:

अर्चि (ज्योति) ⟶ दिवस ⟶ शुक्लपक्ष ⟶

(उत्तरायण) ६ महीने ⟶

⟶ संवत्सर ⟶ देवलोक ⟶ वायु ⟶ आदित्य ⟶

चन्द्रलोक ⟶ विद्युत ⟶ वरुण

⟶ इन्द्र ⟶ प्रजापति ⟶ ब्रह्मलोक (सत्यलोक)

महर्लोक, जनलोक व तपोलोक इस प्रकार बने हुए हैं: महर्लोक में देवलोक व वायुलोक आते हैं । जनलोक आदित्यलोक, चन्द्रलोक तथा विद्युतलोक के संयोग से बना है । तपोलोक में वरुणलोक, इन्द्रलोक व प्रजापति लोक का समावेश है ।

सूचना : विद्युतलोक से आगे जानेवाले के लिये वहाँ एक अलौकिक पुरुष जीव को लेकर उसके भोग्य लोक तक ले जाता है । इस मार्ग के संबन्ध में विस्तृत चर्चा (ब्र.सू. ४.३.१–६) में की गई है ।

२. दक्षिण मार्ग : (छांदो ५.१०.३–५; बृहद् ६.२.१६): जो वैदिक कर्म (यज्ञ–याग आदि), इष्ट, पूर्त अथवा दत्त कर्म करते हैं वे धूम्र के देवता के द्वारा रात्री के देवता, वहाँ से कृष्ण पक्ष के देवता, वहाँ से दक्षिणायन करते छ महिने के देवता के पास पहुँचते हैं । (वे संवत्सर के देवता को नहीं प्राप्त करते हैं) । यहाँ से पितृलोक, आकाश (भुवः), चन्द्रलोक (स्वहः) के आधीन होते हैं । यहाँ रहकर उन्हें उच्चकक्षा के देवों की सेवा–चाकरी करने का लाभ प्राप्त होता है । उनके पुण्य कर्म पूर्ण होने पर संचित कर्मों में से जो कर्म प्रारब्ध कर्मों में परिणमते हैं, उसके अनुसार वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते है (इस मार्ग का २.८.४ में वर्णन किया गया है) ।

३. जन्म-मरण के चक्कर में (छांदो ५.१०.८) : पापी, दुरात्मा जन्म–मरण के विषय चक्र में लम्बे समय तक जकड़ा हुआ रहता है । ऊपर के दो मार्गों में से एक भी मार्ग इन जीवों के लिये नहीं है । वे बारम्बार जीव–जन्तु, प्राणी, पक्षी अथवा लील–घास जैसी हल्की कक्षा में जन्म लेकर पीड़ा भोगते हैं ।

२.८.३ सिद्धि की परिसीमा - आदितत्त्व-४ (क) : (टीप ४.२, छांदो ७.१.५, ८.५.३ बृहद् ४.४.५; भ.गी. ८.६) ब्रह्म के जिस स्वरूप की उपासना की जाती है (२.६.२), उस स्वरूप की मर्यादा में ही फल प्राप्त होता है, इसकी मर्यादा से अधिक फल नहीं मिलता । (यह हमारे निरीक्षण–५ की ही प्रतिकृति है ।)

देवर्षि नारद सनत्कुमार से विनती करते हैं कि वे उन्हें ब्रह्म के विषय में जानकारी दें । क्योंकि ब्रह्मज्ञानी शोक से रहित हो जाता है । गुरू कहते हैं कि तुम जो कुछ जानते हो सो कहो; मैं आगे का मार्ग प्रशस्त करूँगा । उन्होंने बहुत से दुनियावी विज्ञान, जिनमें वे पारंगत थे, बताये । गुरू कहते हैं: ''नाम एव एतत् – यह केवल मात्र नाम ही है ।'' यह नाम की ही उपासना है । इससे क्या प्राप्त होगा? (४.२ छांदो ७.१.५) ''जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है, उसे नाम की परिसीमा के भीतर सर्वत्र विचरण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है ।'' नारदजी को इस संकुचित सीमा का विस्तार करना है । गुरू ने एक से एक सुन्दर (महत्त्वपूर्ण) २१ तत्त्व बताये (४.२ छांदो–७) इसी का समर्थन (बृहद् ४.४.५) करता है । ''मनुष्य मनोकामना के अनुसार संकल्प करता है; संकल्प के अनुसार कार्य करता है; तथा कार्य के अनुसार फल मिलता है ।'' (छांदो ३.१४.१) ''इस लोक में जो निश्चय किया जाता है उसी के अनुसार परलोक में प्राप्त करता है''। (भ.गी.८.६) ''जिस मनोकामना के साथ इस शरीर को त्यागता है, उसी के अनुसार उसे परलोक में प्राप्ति होती है ।''

२.८.४ पुनर्जन्म का मार्ग - आदितत्त्व-४ (ड) : (छांदो ५.१०.५–८, पंचाग्नि विद्या; ८.५.४ बृहद् ४.४.६) : वर्तमान लोक में प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा हो जाने पर वह इस लोक में पुनर्जन्म लेता है ।

दक्षिणायन के भोग की समाप्ति होने पर उतरते हुए पानी के प्रवाह में आलोक आने का एक ही निश्चित मार्ग है, उसे देखते हैं : (छांदो ५.१०.५–८) ''कर्मफल भोगने के पश्चात् उसी रास्ते वापस जाता है । वह अंतरिक्ष द्वारा वायुलोक होकर धूम्र लोक पहुँचता है, तथा सफेद बादल में छुप जाता है । तत्पश्चात् घनघोर बादलों में जाकर वर्षा द्वारा अधोगति को प्राप्त करता है । इस जीव का प्रवेश अनाज (धान, जौ आदि) में होता है । इसका भोजन करनेवाले पुरुष के वीर्य के द्वारा प्रवेश करके वह पुनर्जन्म प्राप्त करता है । सद्गुणी तथा अधिकारी जीव उच्च कुटुम्ब में जन्म लेता है, जबकि दुष्ट व्यक्ति अपने कर्मों के फलस्वरूप चाण्डाल, कूकर अथवा शूकर का जन्म लेते हैं। पापी व दुराचारी लोग तो तुरन्त ही छोटे–छोटे जीव–जन्तुओं के रूप में जन्मते हैं, तथा बारम्बार जन्म–मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं ।''

नया जन्म लेने का यह चक्कर कितना विषम तथा दुःखदायी है, इस विषय पर विचार करते हैं : जीव वर्षा के माध्यम से अनाज में ही प्रवेश करेगा, यह कैसे माना जाय? बरसात समुद्र में, पहाड़ पर तथा गंदी नाली आदि में भी गिरता है । यदि संयोगवश जीव का प्रवेश धान्य में हो तो भी किसान अथवा व्यापारी उसे कूडे–कचरे में फेंक सकते हैं, अथवा यह भी संभव है कि अनाज सड़ जाय, और उसे जीव–जंतु भक्षण करें । दैवयोग से किसी व्यक्ति के भोजन में आये तो वृद्ध, पापी अथवा भ्रष्ट व्यक्ति का भोजन बन सकता है । अत्यन्त सद्भागी जीव सद्गुणी युवक का भोजन बनकर उसके वीर्य में प्रवेश कर सकता है, तथा कौन जानता है कि वह एक सुन्दर बालक के रूप में प्रकट हो जाए? सौम्य तथा संस्कारी कुटुम्ब में जन्म लेने से पूर्व उसे अनगिनत अनपेक्षित परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। वस्तुतः, मानव जन्म तो परम परमेश्वर की असीम कृपा के बिना असंभव है। अतः इस अमूल्य जीवन को यों ही नष्ट कर देने में कितना खतरा है, यह अब समझा जा सकता है । इसीलिये (केन २.५) सावधान करता है, ''इसी जन्म में ब्रह्मज्ञानी (ब्रह्म को जान लेना) होना चाहिये – यही सर्वथा उचित है, अन्यथा भयंकर हानि होती है ।''

प्रकरण-३

वेदान्त - सैद्धान्तिक दृष्टि

३.१ प्रावेशिक :

वेदान्त की प्रस्तुति गहन हृदयस्पर्शी रोचक भावों के साथ उत्कृष्ट तथा सुद्रढ तत्त्वज्ञान के संयोजन से सुशोभित है ।

वेदान्त की वैज्ञानिक स्वरूप में प्रस्तुति नील गगन में स्वतन्त्ररूप से भ्रमण करते पक्षी को पिंजरे में बन्द कर देने के समान है । यह पिंजरा निरीक्षण तथा आदितत्त्वों से बना हुआ है । प्रकरण-२ में इसे विस्तार सहित समझाया गया है, जो इस पिंजरे की मजबूती की परीक्षा के समान है । इस पक्षी को अब हम प्रमेयों तथा उपप्रमेयों के आहार द्वारा पुष्ट करेंगे ।

क्या इस पिंजरे का पक्षी गा सकेगा? यह प्राकृतिक जगत, जो आवागमन का एक मेला है तथा जो सतत परिवर्तनमय एवं गतिशील है, वहाँ अस्तित्व बनाये रखने के लिये परिस्थिति को सानुकूल बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है । हाँ, यह पक्षी गायेगा, पर इसका राग बदल जायेगा। क्योंकि कुछ प्राप्त करने हेतु कुछ खोना भी पड़ता है । एक फायदा यह है कि वह दुश्मनों के आक्रमण से बच जाय (वैज्ञानिक प्रस्तुति में विवाद की संभावना नहीं है)। भोजन के लिये (प्रमेय, उपप्रमेय इसके खुराक हैं) इसे भटकना नहीं है । सैद्धान्तिक पद्धति मूलों से शुरू होकर कोई भी कमी (कसर) रखे बिना अपनी शाखाओं को फैलाती है, तथा दृढतापूर्वक परिणामों के मधुर फलों का आस्वादन कराती है।

वेदान्त के मूलों की प्रस्तुति में सत्-विद्या का प्रमुख स्थान है । इसके बचे हुए सिद्धान्तों को, प्रत्यक्ष या परोक्ष, इस प्रकरण में प्रमेय अथवा उपप्रमेय के रूप में मूलों के आधार पर सिद्ध किया जायेगा । इस समुदाय तथा मूलों की मदद से वेदान्त के कुछ अन्य सिद्धान्त साबित किये जायेंगे (प्रकरण ४-८) । इसीलिये सत्-विद्या को **वेदान्त शिरोमणि** कहा गया है । हम छांदोग्य (अध्याय ७-८), तैत्तिरीय, ऐतरेय, मुण्डक तथा बृहदारण्यक

उपनिषदों की परा–विद्या के सिद्धान्तों की जाँच करेंगे । इन सिद्धान्तों के प्रयोजन स्वरूप इनके आधार पर विद्यायें प्रस्तुत की गई है, जो भौतिक तथा आधिभौतिक फलों के उपरान्त मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बतलाती हैं । ये विद्यायें हमारी सैद्धान्तिक प्रस्तुति के फल रूप मानी जाती हैं ।

यहाँ जो सिद्धांत साबित किये जा रहे है; उनके लिये हम अपने मूलों, प्रमेयों, उपप्रमेयों तथा पूर्व में सिद्ध किये सिद्धान्तों का उपयोग करेंगे । प्रस्थान–त्रय के तथ्य भी हमारे तर्क के समर्थन में प्रस्तुत किये गये हैं ।

३.२ स्थूल तत्त्व :

अब स्थूल सृष्टि, जो वेदान्त वृक्ष की प्रमुख शाखाओं रूप है, उसे स्पर्श करते वेदान्त के सिद्धान्तों की हम वेदान्त के मूलों द्वारा जाँच करेंगे । इस वृक्ष की उपशाखाओं रूप चेतन तत्त्वों का अभ्यास (३.३) में किया जायेगा ।

पूर्वप्रमेय-१ : प्रत्येक विकार उसके कारण में अव्यक्त रूप से अस्तित्व में होता है, अथवा ऐसे विकारों के संमिश्रण से पैदा हुआ होता है । (इसका भावार्थ है कि वास्तव में किसी भी वस्तु का नवसर्जन नहीं होता । वह बीज स्वरूप में अदृश्य रहती है, तथा अब इन्द्रियों का विषय (इन्द्रियगम्य) बनती है।

यदि माना जाय कि मिट्टी में घड़े का अस्तित्व नहीं था, फिर भी उससे घड़ा बन सकता है, तो इसे पानी या हवा में से क्यों नहीं बनाया जा सकता? थोर के पौधे पर गुलाब या मोगरा क्यों नहीं खिलता? इससे सिद्ध होता है कि विकार उसके कारण में गर्भावस्था में ही मौजूद थे । अन्य पदार्थ इस प्रकार पैदा हुए पदार्थों के अनेक प्रकार के तथा अनेक प्रमाण में हुए संयोजन से पैदा होते है।

पूर्वप्रमेय-२ : प्रत्येक स्थूल पदार्थ सत् में से ही पैदा होता है । उसी में स्थित है तथा उसी में लय होता है । प्रत्येक पैदा हुआ पदार्थ सत् ही है ।

सत् स्वयं ही महाभूतों में परिवर्तित हुआ है (आदितत्त्व–२, ३), जैसे मिट्टी ही घड़े के स्वरूप में परिवर्तित होती है ।

ये सब परिच्छिन्न पदार्थ सत् ही हैं क्योंकि (आदितत्त्व–१ (अ)) के अनुसार अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है । इस प्रकार वे सब सत् में ही स्थित हैं, तथा इसी कारण उनका विनाश भी सत् में ही होता है । इस प्रकार सर्जन के पश्चात् भी यह सब सत् ही है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानिति, छांदो ३.१४.१) ।

व्याख्या : प्रपञ्च : पैदा हुए प्रत्येक पदार्थ के समूह को प्रपञ्च कहा जाता है (इस प्रकार प्रपञ्च में सत् के सिवा सभी पदार्थ समाये हुए हैं) ।

पूर्वप्रमेय-३ : केवल मात्र सत् ही अमर व अजर है ।

सत् को छोडकर सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई है (आदितत्व–१अ) अत: इन सब का अंत भी निश्चित् है (आदितत्व–१क)

पूर्वप्रमेय-४ : सत् ही सत्य है; प्रपञ्च की सभी चीजें असत्य हैं ।

यदि सत् सत्य न होता तो समय आने पर उसका विनाश होना चाहिये था । ऐसा होने पर या तो इसका परिणाम शून्य होगा, अथवा अन्य किसी अन्य वस्तु का उद्‌भव होगा । शून्य होना तो संभव नहीं, क्योंकि शून्य में से नवसर्जन नहीं हो सकता । क्योंकि इसमें बीज से रूप कुछ भी नहीं होता, अतः पूर्वप्रमेय–१ के अनुसार नवसर्जन असम्भव है । आदितत्त्व–१ (अ) के अनुसार सत् के सिवा अन्य किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है ।

उपरोक्त व्याख्या के अनुसार प्रपञ्च की प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हुई है, अतः उसका अन्त निश्चित् है (आदितत्त्व–१ (क))। इससे सिद्ध होता है कि प्रपञ्च की सभी चीजें असत्य हैं (१.७ व्याख्या–२) ।

पूर्वप्रमेय-५ : ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या ।

ब्रह्म सत्य है (पूर्वप्रमेय–४) । महाप्रलय के समय प्रपञ्च के सभी पदार्थ सत् में लीन होते हैं, तथा उनका अवशेष नहीं रहता, इसलिये जगत (प्रपञ्च) मिथ्या है (व्याख्या–३; १.७) ।

तत्त्वदर्शी व्यक्ति मिट्टी के ढेले का घड़ा, दीया आदि में परिवर्तन होने के बाद भी इन सभी को मिट्टी ही मानता है । उन्हें सापेक्ष सत्य अवश्य

कहेंगे, किन्तु निरपेक्ष सत्य तो मिट्टी ही है (टीप १.३, छांदो ६.१.४) : ''विकार तो नाम मात्र के हैं, मिट्टी ही सत्य है ।'' श्रुति प्रस्थापित करती है कि परमसत्य तो आदि (मूल) कारण ही है । जीवनमुक्त भले ही जगत के व्यवहारों में व्यस्त दिखाई दे, परन्तु मन से तो वह अन्तर्मुखी ही है। (कठ[१] २.१.१) के अनुसार यह धीर व्यक्ति केवल अन्तरात्मा को ही देखता है ।

पूर्वप्रमेय-६ : सत् के ज्ञान से अन्य सभी का ज्ञान हो जाता है ।

प्रत्येक पदार्थ सत् ही है (पूर्वप्रमेय-२) । अतः सत् के ज्ञान से सब कुछ ज्ञात हो सकता है ।

इसीलिये जीवनमुक्त सर्वज्ञ होता है ।

पूर्वप्रमेय-७ : सर्जन के पश्चात् भी ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयं।'' (छांदो. ३.१४.१ : छांदो ६.२.१)

उत्पन्न हुए पदार्थ नाम-रूप के कारण अलग-अलग होते हैं, ऐसा आभास होता है । ऐसे तो यह सब सत् ही है (पूर्वप्रमेय-२); (आदितत्त्व-१ (अ)) के अनुसार वह मात्र एक तथा अद्वितीय है । इसलिये पैदा हुई वस्तुओं का अन्य किसी वस्तु में परिवर्तन नहीं हो सकता है ।

प्रमेय-१ : सत् सभी स्थूल पदार्थों का उपादान तथा निमित्त कारण है ।

(पूर्वप्रमेय-२) के अनुसार सत् उपादान (समवायी) कारण है । (आदितत्त्व-३) के अनुसार त्रिवृत्तीकरण क्रिया को करनेवाला सत् ही है; इससे जगत (प्रपञ्च) का सर्जन हुआ । इस प्रकार सत् स्वयं निमित्त कारण है। (टीप ८.३, बृहद् २.१.२०) मकड़ी का उदाहरण देकर ब्रह्म के निमित्त कारण होने का समर्थन करता है ।

३.३ चेतनतत्त्व :

हमने (३.२) में स्थूल द्रव्यों के विषय की चर्चा की, अब हम चेतनतत्त्वों के विषय में चर्चा करते हैं ।

---

१. (कठ, २.१.१)
पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ।।१।।

पूर्वप्रमेय-८ : सत् चेतनात्मक है तथा वह सर्वत्र समरूप (Homogeneous) है । उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ में उसी का चेतन समानरूप से व्याप्त रहता है ।

आदितत्त्व-२ कहता है कि ''सत् ने निर्णय किया...'' इससे सिद्ध होता है कि सत् चेतनात्मक है ।

आदितत्त्व-१ (अ) के अनुसार वह ''एकमात्र व अद्वितीय'' होने के कारण अविभाज्य है, जिससे एक विभाग के चेतन से अन्य विभाग चेतनशील बनने जैसी सम्भावना ही नहीं रहती है । सत् के चेतन से इसके विभागों में चेतन आता हो, ऐसा कहना भी नहीं बनता (विभाग हैं ही नहीं)। अतः इसका चेतनत्व जैसे, (टीप ८.४, बृहद् २.४.१२) पानी में नमक सर्वत्र एक रस होकर मिला हुआ रहता है, उसी प्रकार सत् एकरस होकर मिला हुआ है। (छांदो ६.१३.१-२) में भी इसी प्रकार कहा गया है ।

आदितत्त्व-२ के अनुसार सत् स्वयं ही अग्नि रूप बनता है और कहता है, ''उस अग्नि ने कहा, मैं अनेक बनूंगी, मैं जन्म लूंगी ।'' इस प्रकार सत् का चेतनत्व प्रत्येक पदार्थ में आता है, क्योंकि वे सभी पदार्थ अग्नि, जल तथा स्थल (पृथ्वी) के त्रिवृत्तकरण से बने हैं । यदि इन सब पदार्थों में चेतन एक ही प्रमाण में न हो, तो सत् की समरूपता (Homogenety) में कमी दिखाई देती है, क्योंकि सर्वं खलु इदं ब्रह्म । (उपप्रमेय-२) ।

प्रमेय-२ : प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय सत् में ही है ।

शरीर की उत्पत्ति : (निरीक्षण-३) के अनुसार जो अन्न, जल तथा अग्नि (तैलीय पदार्थ) खाने में आते हैं वे अन्नरस बनकर रक्त, मज्जा, चर्बी, हड्डियाँ तथा वीर्य में परिणत होते हैं । वीर्य के प्रस्थापन से माता के उदर में नये शरीर के अंकुर फूटते हैं । नवजात बालक का शरीर माता की खुराक से विकसित होता है । इस प्रकार शरीर महाभूतों से बनता है । इनका (महाभूतों का) मूल कारण सत् है, अतः शरीर की उत्पत्ति सत् में से ही होती है ।

शरीर की स्थिति : अन्न, जल तथा अग्निरूप जो खुराक लेने में आती है, उसके सूक्ष्म तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर (प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि) का

पोषण होता है । अन्न के मध्यम तत्त्वों से चर्म, हड्डियाँ (मल–मूत्र) आदि बनते हैं । यह तथ्य निरीक्षण–३ के द्वारा पुष्ट होता है । इस प्रकार शरीर का सातत्य सत् से बना रहता है ।

शरीर का लय : प्राण छूटने पर भौतिक शरीर तो मिट्टी में मिल जाता है, चाहे अग्निदाह किया गया हो अथवा दफन ।

अब सूक्ष्म शरीर, जो मृत्यु समय पर प्राण में लय हो जाता है, उसके विषय में (२.८ आदितत्त्व–४) में सविस्तार चर्चा की गई है । यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं: अनेक जन्म मरण के फेरों में भटकने के बाद, जब जीव को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, तब मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म शरीर के अवयव उसके देवता में लय होते हैं और आत्मा परमात्मा के साथ संलग्न होता है, जो ब्रह्म बन जाता है !

प्रमेय–३ : सत् ही चेतनतत्त्वों का उपादान तथा निमित्त कारण है ।

प्रमेय–२ के अनुसार सत् उपादान कारण है ।

आदितत्त्व–२ व ३ कहते हैं कि सब का सर्जनकर्ता सत् ही है, इसलिये वही निमित्त कारण है ।

प्रमेय–४ : यह सब ब्रह्म है । (३.२ छांदो ३.१४.१; छांदो ७.२५.१; ८.३.१#६ बृहद् २.४.६; ७.४.१ मुण्ड २.२.११)

प्रमेय–१ व प्रमेय–२ से यह साबित होता है ।

प्रमेय–५ : सत् के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है ।

इस जगत की कोई भी वस्तु – जड़ अथवा चेतन, सत् ही है (पूर्वप्रमेय–२ तथा प्रमेय–२) । अतः इन सभी में सत् के ही गुण हैं । जैसे कि घट में उसके कारण मिट्टी के सभी गुण होते हैं । इसीलिये सत् के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है ।

यह प्रमेय महर्षि उद्दालक द्वारा पूछे गये प्रश्न (१.४) का उत्तर देता है।

प्रमेय–६ : ब्रह्म अप्राकृत (Transcendent) है । (वह मन इन्द्रियों से परे अर्थात अलौकिक, अर्थात सर्वातीत है) ।

जिस किसी का भी सर्जन हुआ है वह सब काल (समय) के अंकुश में है (२.७.४) । ब्रह्म अनादि होने के कारण काल से परे है, और इसी कारण वह स्थल तथा वस्तु से भी स्वतन्त्र है । ऐसा होने के कारण वह अवर्णनीय तथा अकल्पित है ।

३.३.१ ''मैं'' कौन हूँ ? : यह प्रश्न विचित्र लगता है । मैं स्वयं को ही न जानूँ? हम कदाचित शब्दों का ही अर्थ कर रहे हैं, गहराई से विचार करके इसका मर्म जानने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं । शब्दार्थ से देखने पर ''मैं'' शरीर समझा जाता है । जैसे कहते हैं – मैं बीमार हूँ, मैं घायल हूँ इत्यादि । इन सबमें ''मैं'' कहने से शरीर का बोध होता है । अब यदि गहराई से विचार करें तो – शरीर तो जड़ होता है, क्योंकि वह पंच महाभूतों से बना है । बाल्यावस्था से वृद्धावस्ता तक पहुँचते–पहुँचते इसके आकार व ऊँचाई आदि में परिवर्तन होता रहता है । इसके अतिरिक्त यह अनिवार्य रूप से नाशवान है । जीवन भर इसे दुःख व कष्टों की कोई कमी नहीं है । आन्तरिक रूप से जो हम चाहते है, उससे यह बिल्कुल विपरीत है । हम क्या चाहते हैं? हम अमरत्व के अभिलाषी होते हैं, तथा यही माँगते हैं । इस प्रकार विचार करें तो ''मैं'' की व्याख्या जटिल हो जायेगी । परन्तु ''मैं'' याने शरीर – यह भी विचित्र समझ है इसलिये कि शरीर नाशवंत है! वास्तव में तो ''मैं'' क्या है, इसकी खोज हमें करनी है । इसलिये जिसकी खोज करनी है, उसके स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि क्या खोजना है, यह जाने बिना ही, 'कुछ खोज रहे हैं', यह कहना पागलपन जैसा लगेगा । इसलिये अब ''मैं'' की व्याख्या देते है :

व्याख्या : ''मैं'' उसे कहते हैं कि जो अमर है, तथा जिसे लेश मात्र भी दुःख बिना का अनंत आनन्द प्राप्त है ।

महर्षि उद्दालक अपने पुत्र को उपदेश देते हैं : (छांदो[२] ६.८.७) ''तत्त्वमसि'' अर्थात् तू ब्रह्म है । पुत्र अब समझता है, कि मैं ब्रह्म ही हूँ । परन्तु इससे भी कठिनाई दूर नहीं हुई, क्योंकि ''मैं'' के लिये तीन सम्भावनायें हैं : शरीर (भौतिक), जीव (सूक्ष्म शरीर) तथा आत्मा । हम ऊपर देख चुके हैं कि शरीर ''मैं'' नहीं है । अब दो विकल्प शेष रहते हैं, सूक्ष्म शरीर, जीव (१.७ व्याख्या ४), व आत्मा (१.७ व्याख्या ५) ।

२. (छांदो. ६.८.७)
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि ।।७।।

परन्तु निरीश्वरवादी तो शरीर को ही ''मैं'' कहकर मानते हैं । उनका मत है कि युग्म के सहयोग (सहमिलन) से किसी प्रकार के रासायनिक संयोजन की संभावना प्रकट होती है और इसी से संभवतः नवजात का निर्माण होता है । जन्मोत्तर समस्त क्रियाओं में भी वे रासायनिक संयोजन की संभावना (Probabilistic events) को ही कारणभूत मानते हैं । इन महानुभावों के लिये अमरत्व तो शेखचिल्ली वाली बातें ही लगती हैं । वे ''मैं'' की हमारी व्याख्या को नहीं मानते । उनके लिये ''मै'' – अर्थात् भौतिक शरीर ।

परन्तु, अनेक संस्कृतियों एवं समाज में अगम–अगोचर तत्त्व, जिसे हम ईश्वर कहेंगे, का स्थान है, तथा स्वर्ग–नरक के उल्लेख अज्ञात (गुप्त) अथवा स्पष्ट रूप से किये गये होते हैं । इस प्रकार के आस्तिकों से पूछना चाहिये कि स्वर्ग में कौन जाता है? शरीर तो नहीं ही जाता । यदि एक बार मान लें कि जो परलोक गमन करता है, वह ''मैं'' हूँ । स्वर्ग की कल्पना अनेक प्रकार की होती है, किन्तु इसमें एक सर्वमान्य तत्त्व है : स्वर्ग में इस लोक की अपरिपूर्ण अभिलाषायें पूर्ण होती हैं, और लेश मात्र भी दुःख बिना का आनन्द प्राप्त होता है; नर्क मे ज्यादा समय रहना कौन पसंद करेगा ? अब प्रश्न उठता है कि जब कोई व्यक्ति देह छोड़ता है तो क्या वह स्वर्ग में ही जाता हैं? यदि नर्क की भी मान्यता है, तो कोई न कोई तो वहाँ भी जाता ही होगा न! यहाँ पर कर्म का सिद्धान्त लागू होता है (२.८) तथा पुनर्जन्म की मान्यता को भी अवसर प्राप्त होता है । यह मान्यता रखनेवाला ''मैं'' – कर्ता, भोक्ता तथा इहलोक–परलोक में परिभ्रमण करनेवाला होता है । यह हमारी व्याख्या (४;१.७) के अनुसार–जीव है । दुर्भाग्यवश जब कोई जीव नरक में जाता है तो उसे अत्यन्त दुःख सहने पड़ते हैं । इसलिये यह जीव हमारी व्याख्या वाला ''मैं'' नहीं है । अब एक ही विकल्प शेष रहता है – ''मैं'' आत्मा (व्याख्या–५; १.७) ही होना चाहिये।

प्रमेय-७ सूक्ष्म शरीर ही जीव है, तथा ''मैं'' आत्मा है ।

प्राणियों के कार्यों का मूल सूक्ष्म शरीर है, यद्यपि उनकी क्रिया शक्ति का स्फुरण आत्मा से ही होता है । आत्मा स्वयं दृष्टा मात्र ही होता है (२.७.६) । तदुपरान्त (आदितत्त्व–४ (ब)) के अनुसार सूक्ष्म शरीर ही इहलोक–परलोक

में परिभ्रमण करता है । इस प्रकार सूक्ष्म शरीर ही, (१.७ व्याख्या–४) के अनुसार, जीव है ।

परन्तु जीव ''मैं'' की व्याख्या के अनुरूप नहीं है, क्योंकि (२.३) के अनुसार सूक्ष्म शरीर पंच महाभूतों से बना हुआ है, और प्रत्येक उपार्जित वस्तु का अन्त निश्चित होता है (आदितत्त्व–१ क) । इस प्रकार जीव अमर नहीं है। तदुपरान्त उसका परिभ्रमण व पुनर्जन्म दुःखदायी होता है। उसके लिये अनन्त आनन्द तो असंभव है । इसके विरोध में आत्मा ''मैं'' की व्याख्या के अनुरूप है । आत्मा (ब्रह्म) दृष्टा मात्र होने के कारण वह दुःख–दर्दों से अलिप्त रहता है। तथा उसका कोई स्वरूप नहीं है, परन्तु वह स्वयं ही प्रत्येक शरीर में प्रवेश करता है (२.७.६) । अतः आत्मा शाश्वत तथा अनन्त है ।

उपप्रमेय–१ (टीप ३.२, छांदो ६.८.७) तत्त्वमसि ।

यह उपरोक्त प्रमेय–७ से सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त (बृहद् १.४.१०) ''अहम् ब्रह्मास्मि'' भी साबित होता हैं ।

समालोचना : आत्मा एवं जीव : अज्ञानी ही आत्मा को कर्ता समझकर जीव को निम्न स्तर पर रखते हैं : ''आत्मा तो वास्तव में ब्रह्म ही है, अज्ञानी इसे बुद्धि अथवा मन समझते हैं ।'' (बृहद्[३] ४.३.७) इसका समर्थन करता है : वह (आत्मा) मन की भाँति विचार करता है तथा शरीर की तरह हलन–चलन करता है ।''

उपरोक्त तथ्य को समझने के लिये हम एक व्यवहारिक उदाहरण लेते हैं । विद्युत सर्वत्र एक समान रूप से विद्यमान है, किन्तु बल्ब की शक्ति के अनुसार प्रकाश कम या अधिक होता है । इससे सिद्ध होता है कि प्रकाश देनेवाला तो वास्तव में बल्ब ही है, पर विद्युत की गैरहाजरी में वह प्रकाश देने में असमर्थ होता है । अतः विद्युत बल्ब को उत्तेजना देनेवाली है, वह स्वयं कार्य नहीं कर सकती, परन्तु अन्य को क्रियाशील बनाती है । इसी प्रकार, आत्मा स्वयं निष्क्रिय रहते हुए प्राणियों के अंग–उपांगों को कार्यशील बनाती है । इसलिये आत्मा केवल दृष्टा है, कर्ता तो जीव है ।

---

३. (बृहद् ४.३.७)
कतम आत्मेतियोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव ।।७।।

हमने यह भी देखा, कि जीव अमर नहीं है । तो इसका विलय कब होता है? ब्रह्मज्ञान उपलब्ध होते ही इसके सारे कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं । छांदोग्य उपनिषद् में (छांदो ६.१४.२) कहा गया : ''(ब्रह्मज्ञानी को) देह छूटने तक की ही प्रतीक्षा करनी होती है। तत्पश्चात् वह मुक्त आत्मा होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है ।'' तदनन्तर इस ब्रह्मज्ञानी का सूक्ष्म शरीर इसके अवयवों के देवों में लय हो जाता है। (टीप ७.३; मुण्ड़ ३.२.७; प्रश्न ६.५) ।

अब जिसमें वेदान्त का रहस्य समाया हुआ है, उसका परिच्छेदन करते हैं : (टीप ३.२; छांदो ६.८.७) **''स एषोणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि''** । वह जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह इन सब में आत्मा रूप से है । ''वह'' ही सत्य है, वह आत्मा है, तू वही है ।

यहाँ ब्रह्म (सत्) को ''वह'' कहा गया है । सत् को सूक्ष्म तत्त्व कहते हैं तथा वह सर्व में स्थित है । ''वह'' अर्थात् सत् ही आत्मा है, ''वह'' अर्थात् सत् ही सत्य है । पुनः कहते हैं, कि सत् ही आत्मा है, अन्त में कहते हैं, तू सत् ही है ।

यह चार–अक्षरी महा–वाक्य अद्वैतवाहक है ।

३.४ सत्-विद्या एकनजर में :

वेदान्त के गूढ रहस्यों का सार सत्–विद्या (छांदो–६) के प्रथम आठ खण्ड़ों में समाया हुआ है, जिसका हमने प्रथम तीन प्रकरणों में समावेश किया है । जिन्हें हमने आदितत्त्व अथवा निरीक्षण के रूप में लिया है, वे प्रकरण–१ में हैं । इसकी सविस्तार स्पष्ट व्याख्या प्रकरण–२ में दी गई है । अन्य महत्वपूर्ण रहस्यों को प्रकरण–३ में प्रमेय तथा उपप्रमेय के रूप में लिया गया है । इन सबके परिणाम स्वरूप ''वह तू ही है'' यह चार अक्षरी महावाक्य प्राप्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार, कि जैसे दही को बिलोने से मक्खन निकलता है । वैसे देखा जाय तो यहीं सत्–विद्या का प्रकरण समाप्त हो जाना चाहिये, क्योंकि महर्षि के स्वयं के द्वारा पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर यहीं मिलता है । परन्तु उनके पुत्र श्वेतकेतु के बहुत से संशय रह जाते हैं। अतः उनका स्पष्टीकरण आगे के विभागों में किया जाना है । हम संक्षेप में आगे देखते हैं :

३.४.१ (टीप २.५; छांदो ६.९.१-३) : सुषुप्त अवस्था में जीव सत् (आत्मा) में लीन रहता है (निरीक्षण-४) । उसे क्यों मालूम नहीं पड़ता कि वह सत् के साथ एकरूप हो गया था?

इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि मधुमक्खी का उदाहरण देते हैं । मधुमक्खियाँ अनेक प्रकार के पुष्पों में से मधु पैदा करती हैं, तथा कौन से पुष्प से उसे प्राप्त किया है यह भूल जाती हैं । जीव जब सत् में लीन होता है तब उसका नाम-रूप छूट जाता है । जागृत अवस्था में नाम-रूप पूर्व की ही तरह उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु बीच के समय इनका खयाल नहीं रहता क्योंकि उस समय मन व बुद्धि क्रिया रहित हो जाते हैं । वे उस समय आत्मा में लीन रहते हैं ।

३.४.२ (छांदो ६.१०.१-३) : हम जब प्रवास के लिये निकलते हैं, तब अन्य स्थल पर पहुँच कर यह नहीं भूलते कि हम कहाँ से निकलकर आये थे । तो फिर प्राणियों का सत् में से ही प्रादुर्भाव होता हैं, पर वे अपने मूल निवास स्थान को क्यों भूल जाते हैं?

नदी समुद्र से पैदा होती है तथा उसी में लय हो जाती है, और उसका नदी स्वरूप भुला दिया जाता है । उसे यह खयाल भी नहीं होता, कि वो अपने ही धाम में आई है । इसी प्रकार प्राणी केवल सत् में से ही पैदा होता है, तथा उसी में लीन हो जाता है । सामान्य जीव को इसका खयाल भी नहीं होता कि वह इस प्रयाण के समय स्वयं अपने मूल में स्थित रहता है ।

३.४.३ (छांदो ६.११.१-३) : हमने (२.५.३) में बताया है कि प्रपंच को परिणामवाद से समझा जा सकता है । उसमें समझाया गया था कि समुद्र की लहरों, बुलबुलों आदि की तरह ही प्राणी भी सत् में से पैदा होते हैं। लहरों बुलबुलों आदि का लय समुद्र में ही होता है । वे पुनः उसी स्वरूप में वापस नहीं आते । वैसे देखा जाय तो प्राणी सुषुप्त अवस्था में, मृत्यु के समय तथा प्रलय के समय सत् में लय होता है, पर उसका सम्पूर्ण विनाश नहीं होता; वह जाग्रत अवस्था में आते ही पुनः अपने पूर्व स्वरूप में आ जाता है ऐसा क्यों?

इसके प्रत्युत्तर में वृक्ष का उदाहरण दिया गया है । वृक्ष के नीचे, बीच में अथवा ऊपर चोट से घाव किया जाय तो इसमें से रस निकलेगा, परन्तु वृक्ष का विनाश नहीं होता । इसी प्रकार प्राणी का सुषुप्त अवस्था में या मृत्यु समय या प्रलय समय विनाश नहीं होता (इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर विराम लेता है, उसका नाश नहीं होता) ।

३.४.४ (छांदो ६.१२.१-३) : सत् सूक्ष्म है, तथा नाम–रूप विहीन है। किन्तु इसमें से पैदा होनेवाले पदार्थ विरुद्ध गुणधर्मों वाले होते हैं – जैसे कि वे स्थूल होते हैं तथा नाम–रूप धारण करनेवाले होते हैं । ऐसा क्यों?

किसी फल का एक बीज लें, तथा उसे विभाजित करते जाओ जब तक कि आगे विभाजन संभव न हो । इस सूक्ष्मतम विभाग में क्या दिखाई देता है? कुछ भी नहीं । स्थूल वस्तुएँ सूक्ष्म में से पैदा होती हैं ।

३.४.५ (छांदो ६.१३.१-३) : सत् में से दृश्यमान जगत पैदा हुआ । सत् क्यों दृष्टि गम्य नहीं है?

पानी में नमक को मिलाकर घोल देने पर वह उसमें दिखाई नहीं देता। परन्तु चखने पर उसके अस्तित्त्व की जानकारी होती है । नमक की तरह सत् भी सभी में एकरस (Homogeneous) व्याप्त है, तथा वह अदृश्य रहता है । (सत् का अनुभव करने के लिये योग्य प्रक्रिया करनी चाहिये) । (३.४.४ तथा ३.४.५ के प्रश्नों में विशेष अन्तर नहीं है) ।

३.४.६ (छांदो ६.१४.१-३) : ऊपर हमने देखा उसके अनुसार सत्, पानी में मौजूद नमक की तरह स्पर्श अथवा दृष्टिगम्य नहीं है, परन्तु पानी को चखने से नमक होने का अनुभव किया जा सकता है । सत् को अनुभव करने का क्या ऐसा कोई साधन है?

हाँ, ब्रह्मज्ञानी गुरू की कृपा से सत् लभ्य है । श्रुति उदाहरण देती है : एक व्यक्ति जंगल में रास्ता भूल जाता है, सद्भाग्य से उसे एक मार्गदर्शक मिल जाता है, जिसकी मदद से वह अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेता है । इसी प्रकार सत् का अनुभव करने के लिये गुरू की आवश्यकता होती है ।

३.४.७ (छांदो ६.१५.१-३) : प्रारब्ध के संयोग से यदि ऊपर दिये गये अनुसार ब्रह्मज्ञानी गुरू मिल जाय, तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय, तो यह जीवनमुक्त जब देह छोड़ता है, तो उस समय की स्थिति समझनी चाहिये । देखो (२.८.१) ।

३.४.८ (छांदो ६.१६.१-३) : ऊपर बताये अनुसार, ज्ञानी अथवा अज्ञानी, देह-त्याग के समय एक ही प्रकार से सत् में लीन होते हैं । तो भी अज्ञानी प्रपञ्चमय जगत् में वापस आता है और ज्ञानी वहीं स्थाई रह जाता है । ऐसा क्यों?

इसके संदर्भ में श्रुति एक घटना का निरूपण करती है । राजा के पास दो व्यक्ति लाये जाते हैं । इन दो में से एक ने चोरी की है, ऐसा आरोप लगाया गया है । राजा ने आज्ञा दी कि इन दोनों को लोहे की लाल गर्म की हुई छड पकडावें। राजा का आशय था कि गुनहगार का हाथ जल जायेगा, तथा निर्दोष सही सलामत रहेगा । इस प्रकार एक ही साधन होते हुए भी पात्र की योग्यतानुसार प्रतिक्रिया भिन्न होती है । जैसे अग्नि लकडी तथा पानी के साथ अलग-अलग प्रकार से वर्तती है ।

उपरोक्त उदाहरण तो रामबाण के समान है, तो भी शास्त्रीय कारणोंसे विश्वस्त कराने पर लेशमात्र भी शंका नहीं रहती । कठोपनिषद में (कठ २.२.७) समझाया गया है : ''अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करने के लिये किसी योनि को प्राप्त होते है, और कितने ही स्थावर-भाव को प्राप्त हो जाते है।'' अज्ञानी की गति समझाते हुए कहा गया है (बृहद् ४.२.८) इसका सूक्ष्म शरीर निष्क्रिय तथा अदृश्य रूप से रहता है, जिससे उसके संचित कर्मों के अनुसार उसकी आगे गति होती है। ज्ञानी के तो सभी कर्मों का विलय हो गया होता है, अतः उसकी क्या गति होगी? इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (टीप ७.३; ७.४, मुण्ड़ ३.२.७-९) में कहा है कि उसके सूक्ष्म शरीर के अवयव स्व-स्वदेवों में लय होते हैं, तथा उसकी आत्मा सत् में समा जाती है; वह स्वयं ही ब्रह्म बन जाता है ।

प्रकरण-४

वेदान्त के मूल - छांदोग्य में

४.१ प्रावेशिक :

पिछले प्रकरणों में हमने देखा कि वेदान्तिक तत्त्वज्ञान के मूल सत्विद्या में छुपे हुए हैं । वहाँ हमने निष्कर्ष निकाला था कि आत्मज्ञान से सर्वोत्तम सिद्धि रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है । सिद्धातों को स्थापित करने के पश्चात् उनके द्वारा फल प्राप्ति के मार्गों को जानना चाहिये । छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय-७ व ८ में वेदान्तिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर उनके द्वारा आत्मज्ञान के मार्ग बताये गये हैं । हम देखेंगे कि ये सिद्धान्त हमारे मूलों (१.६) पर अवलंबित हैं । इसी सन्दर्भ में आत्मज्ञान के मार्गों का भी विवरण दिया जायेगा। इससे सिद्ध होगा कि वेदान्त के मूलों पर ही वेदान्तिक तत्त्वज्ञान निर्भर है ।

कोष्ठक में दी गई संख्या (#XX) उस विभाग के श्लोक का क्रमांक है।

४.१.१ प्रारंभिक :

वेदान्त को आत्मज्ञान की ओर ले जानेवाली बहुत सी पद्धतियों में निम्न पद्धति प्रचलित है :

प्रपञ्च-द्वैत में ब्रह्म के सूक्ष्म स्वरूप (२.६.२) का दर्शन करवा कर उसे अधिक से अधिक उत्कृष्ट स्वरूप के समीप ले जाकर शाखा-चंद्र न्याय के अनुसार उसके दर्शन करवाना । इस पद्धति को आसानी से समझने के लिये कुछ व्यवहारिक उदाहरण लेते हैं:

गणितशास्त्र की एक शाखा, जो कलन शास्त्र (Calculus) के नाम से जानी जाती है, से एक उदाहरण लेते हैं : फलन $f(n)=1/n$ में जैसे-जैसे n की कीमत बढती है, $f(n)$ की कीमत कम होती जाती है, और वह शून्य के अधिक-से-अधिक नजदीक पहुँचती जाती है । किन्तु n की किसी भी कीमत के लिये इसकी कीमत शून्य नहीं होती । इसे इस प्रकार बताया जाता है : $\text{limit } f(n) = \text{limit } 1/n = 0, \text{ as } n \to \infty$ (infinity). अर्थात्

ज्यों-ज्यों **n** अनन्त की ओर अग्रसर होता है, त्यों-त्यों **f(n)** शून्य के नजदीक पहुँचता जाता है, किन्तु कभी शून्य नहीं होता । इसे हम '**f(n)** की सीमा (**limit**) शून्य है' इस प्रकार व्यक्त करते हैं । (यदि **n** से हम यह मानें कि हम अपने जीवन के कितने समय परमात्मा का स्मरण करते हैं, **f(n)** से हमारे व परमात्मा के बीच की दूरी को मानें, तो इससे निष्कर्ष निकलता है, कि हम अपने जीवन का जितना अधिक समय प्रभु स्मरण में लगाते हैं, उतनी ही हमारी व परमात्मा के बीच की दूरी कम होती है । जब हम अपना जीवन प्रभु को सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर देते हैं ($n \to \infty$), अतः $\lim_{n\to\infty} f(n)=0$, अर्थात् तब हम प्रभुमय ही बन जाते हैं ।

छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय-७ व ८ में इसी प्रकार द्वैत में ब्रह्म स्वरूप के दर्शन करवाकर अधिक सूक्ष्म तत्त्वों की पहचान कराई जाती है, वहाँ से बीज स्वरूप की तथा अन्त में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप अथवा तुरीय अवस्था का ज्ञान करवाया जाता है ।

अब एक अन्य सामान्य उदाहरण लेते हैं । लोहे के एक टुकडे को जब लोह चुंबक के पास ले जाया जाता है, तो चुंबक क्षेत्र की सीमा में पहुँचते ही दोनों एक हो जाते हैं । लोहा स्वयं भी चुम्बक बन जाता है ।

हमने (२.६.२) में ब्रह्म के स्वरूपों, जो मनुष्य से लेकर उसके उत्कृष्ट स्वरूप देवों तथा हिरण्यगर्भ में है, की चर्चा की थी । जैसे सीढी के कदम (सोपान) चढते हैं, उसी प्रकार आगे बढते हुए अन्त में ब्रह्म के साथ एकाकार होकर स्वयं ब्रह्म बनना है । वैसे ही जैसे लोहे का टुकडा स्वयं चुंबक बन जाता है । **f(n)=1/n** में **n** के अनन्त होने पर **f(n)** शून्य तक पहुँच जाता है (अनन्त के पथ पर चलते-चलते ब्रह्म में ही मिल जाता है) ।

४.२ भूमा-विद्या (छांदो-७)

छांदोग्य उपनिषद के अध्याय-७ में देवर्षि नारद तथा सनतकुमार के बीच हुए संवाद में ऊपर बताये हुए उदाहरणों के अनुसार ब्रह्म की ओर प्रयाण

करने के सोपान बताये गये हैं । नारद प्रार्थना करते हैं, (छांदो[१] ७.१.३) : ''ब्रह्मवेत्ता सर्व दुःखों को पार कर लेता है इसलिये मुझे उसी (ब्रह्म) का ज्ञान कराइये । मुझे तो केवल भौतिक विज्ञान का ही ज्ञान है ।''

सनतकुमार कहते हैं कि आप जो कुछ भी जानते हो सो कहो । फिर हम उससे आगे प्रगति करेंगे । नारद अनेक भौतिक विद्याओं में पारंगत थे, उन सबकी उन्होंने एक लम्बी सूचि दी (२० विद्यायें) । सनतकुमार ने एक छोटे से वाक्य में ही उसकी कीमत आँकी (छांदो ७.१.३) ''नाम एव एतत्'', यह केवल नाम मात्र है । इसी प्रकार का उल्लेख हमने (२.१.५) में किया है : (टीप १.३, छांदो ६.१.४) ''सभी विकारों का मूल कारण वाणी है, वह केवल नाम ही है । मिट्टी ही सत्य है, घडा नहीं ।'' भावार्थ यह है कि प्रपंच की सभी वस्तुएँ नाशवान है, तथा विनाशी के ज्ञान से अविनाशी का ज्ञान होना असंभव है । इसलिये मुमुक्षु के लिये इसका कोई मूल्य नहीं है । ''तुमने नाम की आराधना की है ।'' इसके परिणाम स्वरूप (छांदो[२] ७.१.५) कहता है, ''जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है उसे नाम की परिसीमा में सर्वत्र प्रयाण करने की स्वतन्त्रता मिलती है ।'' यह हमारे (आदितत्त्व–४ (क)) के अनुसार है । (आदितत्त्व–३) के अनुसार नाम–रूप वाली सभी वस्तुओं का उत्पादन हुआ है, इसलिये उनका विनाश निश्चित् है । इसलिये दुःख से निवृत्ति नहीं मिल सकती । तदनन्तर नारद विनती करते हैं कि इससे अधिक फल प्राप्त हो, ऐसा उपदेश दीजिये ।

गुरू कहते हैं, ''हाँ, वाचा नाम से महान है ।'' इसका परिणाम बड़ा है, परन्तु भौतिक क्षणभंगुरता के अन्दर है । अधिक व विस्तृत फल प्राप्त करने के लिये नारद उपरोक्त प्रकार से प्रश्न पूछा ही करते है । सनतकुमार शांतिपूर्वक एक के पश्चात एक, क्रमानुसार अधिक फल देनेवाले तत्त्वों को

---

१. (छांदो. ७.१.३)
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तार-यत्विति तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ।।३।।

२. (छांदो. ७.१.५)
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगचान्ब्रवीत्विति।।५।।

वर्णन कर रहे हैं : ३–मन, ४–संकल्प, ५–चित्त, ६–ध्यान, ७–विज्ञान, ८–बल, ९–अन्न, १०–जल, ११–अग्नि, १२–आकाश, १३–स्मृति, १४–आशा, १५–प्राण ।

(देखो f(n) के 'n' की कीमत बढती जाती है, अथवा लोहे का टुकडा चुम्बकीय क्षेत्र के समीप आ रहा है) । प्राण की उपासना हिरण्यगर्भ के क्षेत्र में सर्वत्र प्रयाण करने की स्वतन्त्रता देता है । प्रापंचिक जगत का यह सर्वोत्तम फल है । नारद अब ''आगे क्या?'' ऐसे पूछते नहीं हैं । उन्हें समझ में आ गया होगा कि यही सर्वोत्तम फल है । गुरू को लगा कि नारद जैसे उच्च कक्षा के जिज्ञासु को अर्धदग्ध अवस्था में रखना योग्य नहीं है, इसलिये वे स्वयं ही आगे बढने का मार्ग बतलाते हैं ।

अब भौतिक तत्त्वों की परिसीमा को लांघ कर सूक्ष्म व भावात्मक तत्त्वों में प्रवेश करना है । १६–सत्य की प्रतीति (वाचा द्वारा सर्वातीत होना), १७–विज्ञान (समझशक्ति–गहरी समझशक्ति से ही सत्य वादक होना संभव है), १८–चिन्तन–मनन (चिन्तन से ही गहरी समझशक्ति आती है), १९–श्रद्धा (श्रद्धा के बिना चिन्तन हो ही नहीं सकता), २०–भक्ति (भक्ति के बिना श्रद्धा नहीं आती है), २१–क्रियाशील होना (केवल आयोजन करके रुक जाने से कोई काम नहीं होता, मन तथा इन्द्रियों को संयम में रखते हुए योजनाओं को क्रियावन्त बनाना), २२–आनन्द (संयम आदि में आनन्द न आता हो तो सफलता नहीं मिलती), भूमा (अनन्त) ।

सनतकुमार समझाते हैं : ''सीमित में (निरपेक्ष) आनन्द का अस्तित्व ही नहीं है, इसलिये अब, अनन्त को ही जानने योग्य है ।'' अनन्त की ही अनुभूति हुई है, उसकी क्या गारन्टी? सनतकुमार अनन्त की व्याख्या देते हैं : (छांदो[३] ७.२४.१) ''अनन्त उसे कहते हैं, कि जहाँ कुछ देखने को, सुनने को अथवा समझने को नहीं है । अतः सीमित वह है जहाँ कोई भी किसी को भी देख सकता है, सुन सकता है तथा समझ सकता है । जो अनन्त है वह अमर है, जो सीमित है वो मर्त्य है ।'' इस प्रकार अनन्त की व्याख्या अद्वैत का

३. (छांदो. ७.२४.१)
यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्य-त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम।।१।।

समर्थन करती है । इस अद्वैत की अनुभूति का अर्थ है ब्रह्मज्ञान । इस व्याख्या का स्पष्टीकरण माँगते हुए नारदजी पूछते हैं : ''इस अनन्त की महिमा किस पर स्थित है?'' उत्तर प्राप्त होता है : ''स्वयं की भव्यता पर ।'' अद्वैत में तो स्वयं अपने ऊपर ही निर्भर रहना है ।

(८.३.२#१४, बृहद् २.४.१४) ऊपर बताये अनुसार ही एहसास कराता है । (ब्रसू. १.३.८–९) विश्वस्त करता है कि ऊपर वर्णन किया हुआ ''अनन्त (भूमा)'' ब्रह्म ही है, क्योंकि उसमें दर्शायी हुई विशेषतायें ब्रह्म की ही हैं । इस प्रकार नारद ब्रह्मज्ञानी हो जाते हैं ।

इस प्रक्रिया में (आदितत्त्व–४ (क)) का उपयोग किया गया है, जो कहता है कि ब्रह्म के जिस स्वरूप की उपासना की जाती है, उसकी परिसीमा तक ही पहुँचा जा सकता है । गुरू प्रत्येक कदम पर ब्रह्म के स्वरूप की सीमा बढाते गये, ज्ञात से अज्ञात तक ले गये, और २३ वें कदम पर ध्येय सिद्ध हुआ ।

४.३ नन्ही सी गुफा (दहरविद्या) (छांदो ८.१-८.६) :

दहर का अर्थ है छोटी सी । आत्मा का निवास हृदय कमल की नन्ही सी जगह में होता है । इसकी खोज करने का उपाय दहरविद्या में बताया गया है । इसके लिये किसी लम्बी सीढी से चढने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि ब्रह्म के स्वरूप की भव्यता तथा प्रभुता के क्षेत्र के मध्य में पहुँचना है । यहाँ आत्मा का ध्यान करने का तरीका बताया जा रहा है । श्रुति कहती है कि इसके फलस्वरूप ब्रह्मलोक तक पहुँचा जा सकता है । यह परिणाम (आदितत्त्व–४ क) के अनुसार है । दहरविद्या की विशेषता यह है कि यह उपासना का विषय तथा पद्धति बतलाती है । यह प्रार्थना संक्षेप में बताई जाती है । इसका मनन करते रहना चाहिए ।

४.३.१ (छांदो ८.१) : (#१–#३) ''यह शरीर, जो ब्रह्म की नगरी है, इसमें पद्म आकार की एक नन्ही सी गुफा है, जिसे हृदय कहते हैं । इस गुफा में एक छोटी सी जगह है । ज्ञानोपार्जन के लिये इस नन्ही सी जगह में जिसका निवास है, उसी की हमें खोज करनी है । जो यहाँ है वह सब इस

नन्ही सी जगह (हृदय), बाहर के आकाश जितनी ही बड़ी है, तथा इसमें स्वर्ग, पृथ्वी, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत तथा तारे समाये हुए हैं। तदुपरान्त इस बाहर की जगह में जिसका समावेश नहीं है, वह सब भी उस छोटी सी जगह में है। (#५) यह स्थल ही ब्रह्म की वास्तविक नगरी है। शरीर की अपंगता आदि से इसे कोई हानि नहीं होती, तथा जब शरीर का नाश होता है तब भी इस स्थल तथा इसके निवासी का नाश नहीं होता। **यह निवासी आत्मा है, इसे पाप नहीं लगता, अपंगता अथवा मृत्यु भी नहीं आती, भूख-प्यास अथवा कोई दुःख-दर्द नहीं है, यह सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है।** (#६) कर्म के फलों का भोग इसी लोक में होता है, पुण्य के फल परलोक में (स्वर्ग में) भोगे जाते हैं। आत्म साक्षात्कार के पश्चात् देह त्याग करनेवाले की सभी कामना सिद्ध होती हैं, तथा उसे प्रत्येक लोक में स्वतन्त्रता से विचरने का आनन्द प्राप्त होता है, अन्य को यह नहीं मिलता'' **(आदितत्त्व-४ क)**।

४.३.२ (छांदो ८.२) : ''यहाँ विचार मात्र से ही सर्व कामनायें सिद्ध होती हैं तथा भव्यता प्राप्त होती है। पितृलोक में निवास करते पितृओं को मिलने की इच्छा मात्र से ही पितृ प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। माता, पिता, भाई अथवा बहन से मिलने की इच्छा हो अथवा सुगन्धित इत्र, स्वादिष्ट भोजन अथवा सुमधुर गान–नृत्यादि इच्छा मात्र से ही सब कुछ प्राप्त होता है।''

४.३.३ (छांदो ८.४) : सत्य कामनायें भ्रष्ट कामनाओं से घिरी हुई रहती हैं, अतः इस भ्रष्ट व्यक्ति को, जो यहाँ है अथवा परलोक में है, ऐसा कुछ भी देखने को नहीं मिलता। परन्तु सत्यकामी को यह सब मिलता है। जैसे–जिस व्यक्ति को सोना, हीरा, मोती आदि जवाहरात के खजाने का ज्ञान नहीं होता – वह यदि बारम्बार वहाँ से होकर निकले तो भी उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जबकि जानकार व्यक्ति को यह सब प्राप्त हो सकता है। सत्यकामना वाले व्यक्ति (सिद्ध व्यक्ति) की भ्रष्ट कामनायें नष्ट हो चुकी होती है, अतः वह सर्वज्ञ बनता है, तथा उसे सब कुछ प्राप्त होता है।

यह आत्मा ही परमात्मा है (३.३.१ उपप्रमेय–१), तथा यह हृदय में निवास करता है, यह निश्चित् है । अतः आत्मा ही हृदय रूप है । इस ज्ञान से हृदय में विराजने वाले आत्मा के दर्शन मैं निशिदिन करता हूँ ।

यह निर्मल आत्मा, शरीर से मुक्त होकर, **स्वप्रकाशित ज्योति तक पहुँच कर स्वस्वरूप में निवास करता है । यही अमर, निर्भय ब्रह्म है ।** आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह तो यहीं उपस्थित है । इसका अनुभव करना चाहिये । वह सत्यम् = **स + ति (तत्) + यम्** = अमर + मर्त्य + अंकुश; अर्थात् यह तत्त्व–मर्त्य व अमर – सभी को अपने अंकुश में रखता है । जो इस प्रकार निशिदिन प्रार्थना करता है वह प्रतिदिन स्वर्गलोक में पहुँचता है ।''

४.३.४ (छांदो ८.४) : ''बाँध (Dam) जैसे पानी के प्रवाह को रोकता है, उसी प्रकार आत्मा लोगों को परिच्छिन्न होने से रोकती है । वह समय से पर है, तथा बुढापा, मृत्यु, दुःख अथवा पाप–पुण्य से भी पर है । इस बाँध (आत्मा) को जाननेवाले के सभी पापकर्मों का नाश होता है । इस बाँध को पहचानने वाले को मनुष्य जीवन में आनेवाले अवरोध, जैसे कि घायल होना, अंधापा आदि सहन नहीं करने पड़ते हैं । यहाँ रात्रि को स्थान नहीं है, उसका जीवन सर्वदा प्रकाशमय रहता है । ब्रह्मचर्य पालन से वह प्रत्येक लोक में पहुँच सकता है, तथा प्रत्येक लोक में परिभ्रमण करने की स्वतन्त्रता का आनन्द वह प्राप्त कर सकता है ।''

४.३.५ (छांदो ८.५) (ब्रह्मचर्य की व्याख्या) : ब्रह्मचर्य ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम साधन है । यज्ञ, उपासना, उपवास वगैरह में नियमितता, मौन और अरण्यवास – ये सभी ब्रह्मचर्य के साधन हैं । **ब्रह्मचर्य का फल :** ब्रह्मलोक के दो महासागर अर तथा न्य (अरण्य) हैं वहीं प्रवाही खुराक (soup) का सरोवर है । वटवृक्ष अमृत की वर्षा करता है । अपराजित नाम के शहर में सुवर्ण प्रासाद है । ब्रह्मचर्य से यहाँ पहुँचा जा सकता है, तथा सभी लोकों में सैर करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है ।''

४.३.६ (छांदो ८.६) प्रस्थान : (ऊर्ध्वगमन) (इस उपासना का परिणाम) : ''हृदय की १०१ नाडियाँ पिंगल (लाल व नीला), सफेद, आसमानी तथा लाल रंग के सूक्ष्म रसों से भरपूर है । जिस प्रकार एक प्रमुख मार्ग (Highway) दो शहरों को जोडता है, उसी प्रकार सूर्य की किरणें इन नाड़ियों तथा सूर्य को जोडती हैं । नाड़ियों के सूक्ष्म रसों का रंग इन सूर्य–किरणों के कारण से ही है । सुषुप्त अवस्था में तथा मृत्यु के समय आत्मा इनमें से किसी एक नाडी में प्रवेश करती है, जो सूर्य–किरणों के द्वारा सूर्य से जुडी हुई होती है । इन्हीं में से एक नाड़ी–सुषुम्ना नाम की नाडी सिर के मध्य भाग तक जाती है । जो आत्मा इसमार्ग से सूर्य की ओर इसकी किरणों द्वारा जाता है उसे (सापेक्ष) अमरत्व प्राप्त होता है । यह आत्मा मन के समान वेग से सूर्य पर पहुँचता है। अन्य नाड़ियाँ अज्ञानियों के लिये हैं । जो आराधना के बिना यज्ञ करते हैं, उनके लिये ये मार्ग हैं ।

हमारा (आदितत्त्व–४ब) उपरोक्त परिणाम का समर्थन करता है। ब्रह्मज्ञानी का आत्मा उत्तर, दक्षिण अथवा अन्य कोई मार्ग नहीं लेता है। उसके अंग कारणभूत देवों में तथा आत्मा परमात्मा में लय होते है (२.८.१)। जो आत्मा सुषुम्ना नाडी के मार्ग से सूर्य की ओर जाता है, वह ब्रह्मलोक–हिरण्यगर्भ को प्राप्त करता है। यह इस प्राकृतिक जगत का सर्वोच्च फल है। दहरविद्या का फल ब्रह्मलोक है, तथा इससे क्रमिक–मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

४.४ इन्द्र तथा विरोचन (छांदो ८.७-८.१२) :

अब हमें यह देखना है कि प्रजापति इन्द्र को किस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हैं । दहरविद्या में निरूपण किया हुआ आत्मा का ज्ञान ही प्रजापति इन्द्र को देते हैं (तुलना करें ४.३.१#५ तथा नीचे दी गई प्रजापति की घोषणा– छांदो[४] ८.७.१), परन्तु मार्ग बतलाते हैं श्रवण, मनन व निदिध्यासन का । जबकि दहरविद्या उपासना प्रधान है । यह मात्र सगुण ब्रह्म तक की ही सिद्धि प्रदान करती है । विषय एक होते हुए भी अलग–अलग

४. (छांदो. ८.७.१)
य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवा च ।।१।।

विधियों के फल अलग–अलग होते हैं । प्रजापति इन्द्र को मात्र ४ कदमों वाली सीढी ही बतलाते हैं, जब कि नारद को सनतकुमार ने २३ कदमों वाली लंबी सीढी बताई थी (४.२) ।

प्रजापति स्पष्ट मार्ग बतलाते हैं, मगर भूल–चूक से शिष्य गलत अर्थ लगाते हैं । प्रजापति इसमें विघ्न नहीं पैदा करते क्योंकि यह मार्ग तो शौर्य–साहस का है, इसमें कार्यकुशलता होनी आवश्यक है । हम देखेंगे कि विरोचन गलत मार्ग पर अग्रसर होकर इधर–उधर ही भटकता रहता है, जबकि मननशील इन्द्र वापस जाकर अधिक स्पष्टता की याचना करता है । प्रजापति उसे धैर्यपूर्वक सही मार्ग की ओर आगे बढ़ाते हैं । इन्द्र भले ही देवलोक का राजा हो पर गुरू के लिये तो सभी समान हैं । हम देखेंगे, कि प्रजापति इन महाराजाओं की किस प्रकार परीक्षा करते हैं । इसके साथ ही इन्द्र का मुमुक्षुत्व भी अनन्य है । वह राज्य–वैभव का त्याग करके सामान्य शिष्य की भाँति आश्रम के छोटे–मोटे कार्य संभालते हुए, गुरू की आज्ञा में रहते हुए अपनी ब्रह्मज्ञान के लिये योग्यता को समर्थन देता है । ''हरि नो मारग छै शूरा नो, नहिं कायर नुं काम रे ।''

प्रजापति की घोषणा : (छांदो ८.७.१) ''**आत्मा पापरहित, जीर्णावस्था रहित, अमर, दुःख रहित, भूख-प्यास रहित है, जो सत्यसंकल्प व सत्यकाम है ।** उसकी खोज करो तथा उसे पहचानो, जिससे उसका साक्षात्कार हो । यही ब्रह्म है । इसके साक्षात्कार से समस्त लोकों की प्राप्ति होती है, तथा सभी कार्य परिपूर्ण होते हैं ।'' इस निवेदन में दहरविद्या में वर्णवित ब्रह्म के ही लक्षण हैं (४.३.१#५, छांदो ८.१.५) ।

देवों के राजा इन्द्र तथा दानवों के राजा विरोचन को यह घोषणा सुन कर गुरू के पास जाकर योग्य मार्गदर्शन प्राप्त करने की इच्छा हुई । संयोगवश दोनों एक साथ ही गुरू के पास पहुँचे ! इन्द्र इतना बुद्धिमान, साधन सम्पन्न तथा समर्थ, फिर वह क्यों न निवेदन में दर्शित मार्ग का अनुसरण करे? प्रजापति ने अपने निवेदन में स्पष्ट सूचना दी थी, किन्तु उसे ज्ञान में परिवर्तित करना कठिन था । संगीत के विभिन्न राग तो बहुत से लोग पहचान सकते हैं, पर क्या वे सभी तानसेन बन सकते हैं? विज्ञान अथवा औद्योगिक साधनों के विक्रेता अपने साधन की उपयोगिता तथा उससे प्राप्त

होनेवाले लाभ इतनी सुन्दर भाषा में समझाते हैं कि इन साधनों के रचयिता भी विस्मय करने लगते हैं । परन्तु जब साधन में कोई त्रुटि या विकार मालुम पड़ता हो, तो क्या वे इसका निराकरण कर सकते हैं? नहीं, इसका समाधान करने के लिये उन्हें तकनीकी व्यक्ति के पास ही जाना होगा । विक्रयकर्ता के पास जानकारी है पर ज्ञान नहीं है । नये तकनीकी उत्पाद (**Technical Product**) की डिझाइन (**Design**) तो कोई विरला ही कर सकता है । भले सभी की शिक्षा व उपाधि (डिग्री) समान हो, पर अन्य तो विक्रय तथा सर्विस का ही कार्य कर सकते हैं । (केन[५] १.३) द्वारा स्पष्ट होता है कि आत्मा इन्द्रियों की पहुँच के बाहर होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है, तथा किस प्रकार प्राप्त किया जाय, यह हम नहीं जानते । यहाँ कहने का तात्पर्य यह नहीं है, कि आत्मा अलभ्य है । उसे जानते हुए भी व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शब्दातीत है । (टीप ७.२, मुण्ड़ ३.२.३–४) ''तदुपरान्त यह अधिक वाचाल, तर्कशास्त्री अथवा कायर को उपलब्ध नहीं है । यह आलसी व चालाक व्यक्ति को भी लभ्य नहीं है ।'' (कठ १.२.७–८; मुण्ड़ १.२.१२–१३; छांदो ६.४.१–२; भगी ४.३४) में दर्शाया गया है कि ब्रह्मवेत्ता गुरू के पास ही यह ज्ञान लभ्य है । (टीप ३.१, कठ २.१.१) में कहा गया है कि स्वयंभू ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इस कारण वे अन्तरात्मा से विमुख रहती हैं। ब्रह्मवेत्ता गुरू शिष्य की योग्यतानुसार शिक्षा देकर उसकी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाने का प्रयास करते है । तो अब हम देखें कि विरोचन क्यों निष्फल हुआ तथा इन्द्र किस प्रकार सफल हुआ ।

४.४.१ (छांदो ८.७.२-८.८) विद्याभ्यास : यह गूढ ब्रह्मविद्या केवल उच्च श्रेणी के मुमुक्षुओं को ही दी जाती है । गुरू शिष्य की अनेक प्रकार से परीक्षा करके उन्हें योग्यतानुसार ही शिक्षा देते हैं ।

दोनों राजाओं ने अपना स्वभावगत वैभव त्याग कर राजा का परिवेश उतार कर ब्रह्मचारी के वल्कल वस्त्रों को धारण किया । त्याग चित्तशुद्धि का उत्तम साधन है । मल, विक्षेप तथा आवरण दूर हो तभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है । चित्तशुद्धि तो प्राथमिक कदम है ।

---

५. (केन १.३)
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।।३।।

बत्तीस वर्ष पूरे होने पर गुरू उन्हें बुलाकर पूछते हैं, ''आप लोगों का यहाँ रहने का प्रयोजन क्या है?'' क्या वास्तव में गुरूजी भी भूल गये! क्या बत्तीस वर्ष में उन्हें थोडा भी ज्ञान अर्पित किया अथवा आश्रम में सेवा कार्य हेतु ही इन राजाओं को रखा था? ऐसा नहीं है । उनकी दैनिक कार्यशैली का गुरूजी ध्यानपूर्वक निरीक्षण कर रहे हैं, कि उनके राजा सदृश गौरव अथवा अहंकार का नाश हुआ है अथवा नहीं? दोनों शिष्य सर्व में एकता का दर्शन करते हैं अथवा नहीं? आश्रम के अनेक कार्यों में व्यस्त रहते वे अपना लक्ष्य भूल तो नहीं गये? मन का मैल कितना धुला है? दूसरे चरण ''विक्षेप'' को पराजित करने के लिये कटिबद्ध हुए हैं अथवा नहीं? यह सब निरीक्षण करने के बाद गुरू दोनों राजाओं को बुलाते हैं ।

वाह! शिष्य अपने ध्येय को भूले नहीं हैं । (प्रथम निवेदन के संदर्भ में) उनका उत्तर था : ''आपके प्रथम निवेदन में जिस आत्मा का निरूपण किया गया है, उसके ज्ञान की पिपासा शान्त करने हेतु ही हम यहाँ निवास कर रहे हैं।'' गुरू प्रसन्न होकर स्नातकोत्तर शुभाशीष देते हुए कह रहे है : ''चक्षुओं में जो व्यक्ति है, वही आत्मा है; वह अमर तथा निर्भय है । यही ब्रह्म है ।'' गुरू ने अपने प्रारम्भिक निवेदन को ही अधिक स्पष्ट किया है, परन्तु शिष्यों ने समझा कि आँख में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसे ही गुरूजी ब्रह्म कह रहे हैं । अतः वे पूछते हैं : ''जो शीशे में दिखाई देता है वह, अथवा जो पानी में दिखाई देता है वह प्रतिबिम्ब ब्रह्म है? गुरू उत्तर देते हैं : ''जो सभी में निवास करता है, उसकी मैं बात कर रहा हूँ ।''

गुरू, प्रतिबिम्ब की नहीं, किन्तु जिसकी सत्ता से आँखें देख सकती हैं वह ब्रह्म है, ऐसे समझा रहे थे । आँख का दृष्टान्त अधिक यथास्थान प्रतीत होता है, इसीलिये उपनिषद् – ''आँखों में निवास करता व्यक्ति'' – ऐसा ब्रह्म को समझाते है । गुरू चक्षुओं को दृष्टि प्रदान करनेवाले के विषय में कहते थे (केन १.७), प्रतिबिम्ब के विषय में नहीं । शिष्यों का असमंजस (उलझन) देखकर अधिक स्पष्टता करने के लिये गुरू ने कहा, ''इस जल के पात्र में जो देख रहे हो उसका वर्णन करो ।'' दोनों ने एड़ी से चोटी तक शरीर का वर्णन किया, और शरीर को ही ब्रह्म समझ बैठे ! गुरू की नाराजगी बढती गई, परन्तु मदद करने की इच्छा से उन्होंने कहा, ''अब तुम अपना राजसी पोषाक पहन कर आओ, और जो पानी में देखते हो उसका वर्णन करो ।'' इसके साथ ही

उन्होंने पहले की तरह ही कहा, ''यही आत्मा है, यह अमर तथा निर्भय है । यही ब्रह्म है ।'' अभी भी विरोचन शरीर को ही ब्रह्म समझता है, जबकि इन्द्र प्रतिबिम्ब को ब्रह्म मानता है ।

गुरू दुःखी होकर विचार करते हैं, कि इन राजाओं ने बत्तीस वर्ष बिगाड़े! इसलिये गुरू–छोटे बालक को समझाते हैं – इस प्रकार की स्पष्टता करने की जगह गूढता में ही तत्पर रहे । ऐसा क्यों? ब्रह्मज्ञान मानव में और देवों में भी सर्वोच्च स्थिति है, यह चलते–फिरते लोगों के लिये नहीं है । मानसिक उत्कर्ष अमुक स्तर तक होना चाहिये । मन का मैल संपूर्ण रूप से निकला होता तो गुरू की बात स्पष्ट रूप से समझ में आई होती । अधिक स्पष्टता (टीप ४.१, छांदो ७.१.३) के अनुसार ''शब्द मात्र'' ही समझ सकते थे, प्रतीति तो नहीं ही हुई होती । तोते को ''राम'' कहना सिखाया जाय, अथवा अपशब्द, उसके मन में इसका कोई भेद नहीं है । शब्द ज्ञान और ब्रह्मज्ञान के मध्य जमीन–आसमान का भेद है ।

४.४.२ (छांदो ८.९-८.१०) विरोचन की वापसी, इन्द्र की अगेकूच : विरोचन शरीर को ही ब्रह्म समझकर अज्ञान में रहने लगा । इन्द्र राजधानी की ओर प्रयाण करते समय गुरू के उपदेश का मनन करने लगा था । गुरू की प्रथम घोषणा के साथ अपनी समझ की तुलना करने लगा । उसे स्पष्ट रूप से अपवाद रूप असमता दिखाई दी : ''प्रतिबिम्ब तो परिवर्तनशील है, उसका नाश भी होता है शरीर की जीर्णता प्रतिबिंब में भी आती है । जब कि गुरूजी कहते थे, कि ब्रह्म जीर्णावस्था रहित, अमर तथा निर्भय है ।'' इस द्विविधा का हल निकालने के लिये राजमहल पहुँचने से पूर्व ही अपने कदम वापस लेकर गुरू के पास गया, और अपनी समस्या बताई ।

यह विद्या जागृत अवस्था के अनुरूप है । (८.५.१, बृहद् ४.१) में बताया गया है कि राजा जनक ने इस प्रकार की विद्या अन्य गुरू के पास से प्राप्त की थी । महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह अपूर्ण है परन्तु चित्तशुद्धि में मददगार (सहायक) होने के कारण यह मनन एकदम व्यर्थ नहीं है ।

गुरू ने मनन द्वारा हुई प्रगति से खुश होकर कहा (छांदो ८.९.३) : **''पुनः ३२ वर्ष आश्रम में रहोगे तो मैं तुमको यही ब्रह्मविद्या फिर से समझाऊँगा।''** इन्द्र ने प्रसन्न होकर गुरू की आज्ञा मानी । द्वितीय स्नातकोत्तर (दूसरे ३२ वर्ष पश्चात्) गुरू ब्रह्म का निरूपण करते हैं : (छांदो ८.१०.१) ''जो स्वप्न में क्रियाशील रहता है, वह आत्मा है, वह अमर है, वह निर्भय है । वही ब्रह्म है।''

राजमहल के मार्ग में इन्द्र पुनः मनन करने लगा । गुरू के उपदेश की स्वप्न के साथ तुलना करने पर इन्द्र को पुनः असंगति प्रतीत हुई : ''स्वप्न में सुख–दुःख के प्रसंग आते हैं, भय का भी अनुभव होता है । इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यह आत्मा निर्भय नहीं है ।'' राजमहल पहुँचने से पूर्व ही इन्द्र गुरू से मिलने वापस आये – अपनी समस्या बताई । गुरू को इन्द्र की प्रगति देखकर लगा कि वह अब स्वप्नावस्था के ब्रह्म के स्वरूप को समझ कर उसकी त्रुटि को भी देख सकता है । गुरू कहते हैं (छांदो ८.१०.४) ''अभी पुनः तुमको ३२ वर्ष आश्रम में रहना होगा, ऐसा करने पर **उसी ब्रह्म विषयक ज्ञान में वृद्धि होगी ।**'' इन्द्र ने ज्ञान प्राप्त करने की ठान ली थी, अतः वह अपने संकल्प को कैसे छोड़ सकता था? अतः उसने गुरू की आज्ञा प्रसन्नता पूर्वक स्वीकारी ।

४.४.३ दृढनिश्चयी इन्द्र (छांदो ८.१-८.१२) : तीसरी बार ३२ वर्ष के पश्चात् उसे जो सन्देश प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है : ''जब सभी इन्द्रियाँ (मन के साथ) मिलकर शान्त हो जाती हैं, तब उसे एक भी स्वप्न दिखाई न दे – वही यह आत्मा है । यह अमर है; यह निर्भय है; यही आत्मा है ।'' इन्द्र अत्यन्त आनन्दित हो कर राजमहल की ओर प्रस्थान करता है, परन्तु स्वभाववश पुनः गहन चिन्तन में डूब जाता है, और एक विचित्र दुविधा में फँस जाता है – वह विचार करता है – ''इस सुषुप्त अवस्था में सुख–दुःख तो है ही नहीं; इस प्रकार स्वप्न तथा जाग्रत अवस्था में प्रतीत होने वाले ब्रह्म की अपेक्षा यह उत्कृष्ट स्वरूप है, फिर भी अभी कुछ कमी दिखाई देती है । इस अवस्था में चेतनत्व भी चला जाता है । परन्तु गुरू ने तो कहा था, कि ब्रह्म सत्यसंकल्प व सत्यकाम है । ऐसा कैसे हो सकता है?'' इस प्रकार विचार करते–करते धैर्यशील तथा दृढनिश्चयी इन्द्र गुरू के पास गया ! गुरू

पूछते हैं, ''अब क्या समस्या है?'' ''महाराज! क्षमा कीजीयेगा । परन्तु गुत्थियाँ मेरा पीछा ही नहीं छोड़ती हैं । अभी मेरा संशय दूर नहीं हुआ ।'' गुरू ने देखा कि अब उसे सुषुप्त अवस्था में ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है । उन्हें विश्वास हुआ कि श्रवण के पश्चात् मनन की क्रिया उत्तेजित हो चुकी है, और निदिध्यासन की स्थिति प्राप्त होने की तैयारी है । (छांदो ८.११.३) ''ठीक है, अब तुम्हें मात्र ५ वर्ष आश्रम में रहना है । **मैं उसी ब्रह्म के विषय में और अधिक समझाऊँगा ।**''

इन्द्र आश्रम में रहने को सहमत हो गया । उसके चतुर्थ व अन्तिम स्नातकोत्तर समय पर गुरू कहते हैं, ''यह मर्त्य शरीर आत्मा का अधिष्ठान है। आत्मा अमर है तथा उसके शरीर नहीं होता । शरीरधारी कोई भी वस्तु मंगल–अमंगल से दूर नहीं है । इसका कोई निवारण नहीं है । ये दुर्गुण शरीर रहित वस्तुओं को तो स्पर्श भी नहीं कर सकते ।'' यह तुरीय अवस्था है । गुरू कहते हैं, कि तुम शरीर नहीं हो, शरीर तो आत्मा का अधिष्ठान मात्र है । **तुम आत्मा हो, वह अशरीरी है** । अब इन्द्र को ज्ञान होता है : (टीप ३.२, छांदो ६.८.७) ''वह तू ही है''। अब १०१ वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् इन्द्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है ।

४.४.४ सारांश : इन्द्र जो देवों का राजा है, उसने भी आश्रम में निवास करते हुए बहुत कठिनाइयाँ सहन की । अत्यन्त धैर्यपूर्वक १०१ वर्ष की लम्बी सफर उसने एक सामान्य आश्रमवासी की तरह पूरी की । गुरू हमेशा ब्रह्म का ही निरूपण करते थे परन्तु इन्द्र का मन तैयार न था । उन्होंने उसे जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म के सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान कराया । जैसे–जैसे उसका मन ऊर्ध्वगति करता था, वैसे–वैसे ही उपाधियाँ क्षीण होती जा रही थी । तमस व रजस तत्त्वों का परिबल भी कम होता जा रहा था तथा सत्व प्रबल बन रहा था । अन्ततः गुणातीत होकर अशरीरी ब्रह्म का खयाल पुष्ट हो रहा था । इससे आत्मा अपने ही स्वभाव में स्थित हो गई थी । ब्रह्म का स्वरूप इतना अगम्य है कि सिद्ध गुरू के होते हुए भी समर्थ अनुयायी को गहन तपश्चर्या करनी पड़ती है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य भी महाराजा जनक को इसी प्रकार की अवस्थाओं में से प्रसार कराते हुए अन्त में ब्राह्मीस्थिति पर लाते हैं (८.५.२) ।

४.५ उपसंहार (छांदो ८.१३-८.१५) :

वैसे तो यह सम्पूर्ण उपनिषद् का उपसंहार है । उपासक इस प्रकार सुसज्ज होकर अपना अनुभव व्यक्त करता है, ''मैं अंधकार में से वैविध्य प्राप्त करूँगा, तथा मैंने वैविध्य में से ही अंधकार को पाया है । जिस प्रकार राहु के चंगुल से चंद्र छिटक जाता है उसी प्रकार मैं (संसार में से) मृत्यु के अनन्तर अनादि ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँगा ।'' आत्मा के अगम्य होने के कारण उसे अंधकार युक्त कहा है; तथा सर्जनकर्ता ब्रह्म को, सृष्टि की विविधता सर्जन करनेवाला होने से, ''वैविध्य'' कहा है ।

आगे कहते हैं, ''अजर तथा अमर ब्रह्म अपने ही आकाश स्वरूप से नाम–रूपात्मक जगत का सर्जन करता है । मैं प्रजापति के दरबार को प्राप्त करूँगा तथा चारों वर्णों का यश प्राप्त करूँगा । मैं पुनर्जन्म नहीं लूँगा ।'' ये सभी सिद्धियाँ मोक्ष प्राप्त करनेवालों को सुलभ होती हैं ।

अन्त में गुरुओं की परम्परा बताने की प्रचलित प्रथा के अनुसार बतलाते है कि यह शास्त्र ब्रह्माजी ने प्रजापति को, तथा उन्होंने मनु को सिखाया । मनु ने यह भेंट इस लोक को प्रदान की । इस प्रकार कहा जाता है, कि यह शास्त्र अलौकिक है ।

प्रकरण-५

वेदान्त के मूल - तैत्तिरीय उपनिषद् में

५.१ प्रावेशिक :

इस उपनिषद् के तीन विभाग हैं । प्रथम विभाग, शिक्षावल्ली (तैत्ति २.५) अपरा विद्या व उसका फल बताता है । यह फल अपूर्ण[१] होने के कारण द्वितीय विभाग, ब्रह्मानन्द वल्ली, में परा विद्या के सिद्धान्त-अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष तक के ब्रह्म के स्वरूप की जानकारी द्वारा दिये गये हैं । तृतीय विभाग, भृगुवल्ली में, द्वितीय विभाग में दर्शाये गये सिद्धान्तों की मदद से ब्रह्मज्ञान का मार्ग बताया गया है, जिससे मानव जीवन का ध्येय सिद्ध हो सके । यहाँ हमारा ध्येय यह निश्चित् करने का है कि परा विद्या के यहाँ बताये गये सिद्धान्त वेदान्त के मूलों से अनुलक्षित करके ही हैं, अतः मात्र द्वितीय तथा तृतीय विभाग की ही हम चर्चा करेंगे ।

५.२ ब्रह्मानन्द वल्ली : यहाँ ब्रह्म के ''सच्चिदानन्द'' स्वरूप के अन्तर्गत आनन्द स्वरूप (२.५.२.२) को लक्ष्य में रखकर बोध कराया गया है, इसीलिये इस विभाग को ब्रह्मानन्द वल्ली कहा जाता है । छान्दोग्योपनिषद् के प्रकरण-६ में ब्रह्म (सच्चिदानंद) के सत् गुण को लक्ष्य में रखकर विस्तार किया गया है, अतः वह प्रकरण सत्-विद्या के नाम से प्रचलित है (१.५) ।

५.२.१ सर्जन (तैति २.१.१) : इस वल्ली का प्रारम्भ ब्रह्म के स्वरूप लक्षण (२.५.२.२) ''सत्य, ज्ञान तथा अनन्त'' से हुआ है (तैत्ति[२] २.१.१) । यह है हमारा आदितत्त्व-१ (ब) । यही कंडिका आगे बतलाती है कि जो ब्रह्म को - हृदय की उत्तम गुहा में विराजमान है - ऐसा समझते हैं, वो स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं, तथा उनकी सभी कामनायें एक साथ सिद्ध होती हैं (आदितत्त्व-४)।

---

१. इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह अपरा विद्या के लिये पूर्व भूमिका रूप है। यह मन को निर्मल करने में मदद करती है। निर्मल मन से ही अन्तिम ध्येय सिद्ध हो सकता है।

२. (तैति २.१.१)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।।१।।

अब पंच महाभूतों की उत्पत्ति – जो अव्याकृत जगत है – उसका वर्णन किया जाता है । यह जानकारी (२.६.१) में दी गई है । इसमें व्याकृत जगत की उत्पत्ति के विषय में सूचना नहीं है, जिसकी चर्चा हमने (२.७.१, २.७.२) में की है । इसमें स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर की रचना भी नहीं बताई गई है । वहाँ इतना ही उल्लेख है कि मनुष्य अन्न के स्थूल, सूक्ष्म आदितत्त्वों से बना है । यह (२.३ निरीक्षण–३) के अनुसार है । अब बतलाते हैं कि प्रत्येक कोष का स्वरूप मानव के स्वरूप जैसा ही है । मानव का स्वरूप : सिर, दो हाथ, आत्मा (हृदय में निवास करता), तथा पूँछ (नाभि के नीचे का भाग), जो स्थिरता लाता है ।

५.२.२ कोष (तैत्ति २.१-२.५) : प्रत्येक कोष की मानव स्वरूप में व्याख्या की गई है । आगे का कोष पूर्व कोष के अन्दर समाया हुआ है :

	कोष	सिर	दाहिनी ओर	बॉई ओर	आत्मा	पूँछ
तैत २.१	अन्नमय	सिर	दाँया हाथ	बाँया हाथ	आत्मा	नाभि के नीचे का भाग
तैत २.२	प्राणमय	प्राण	व्यान	अपान	आकाश	पृथ्वी
तैत २.३	मनोमय	यजुर मंत्र	ऋक् मंत्र	साम मंत्र	ब्राह्मण भाग	अथर्व मंत्र
तैत २.४	विज्ञानमय	श्रद्धा	सदाचार	सत्य	ध्यान	महत्
तैत २.५	आनन्दमय	आनन्द	उपभोग	उन्माद	आनन्द	ब्रह्म

हम (५.३.१) में देखेंगे कि भृगु इस पाँच कदमवाली सीढी पर कैसे चढते है – अन्नमय कोष से लेकर आनन्दमय कोष तक, जिसकी पूँछ ब्रह्म है, तथा जिससे ब्रह्मज्ञानी बनता है । प्रत्येक कदम पर चढने का जो फल है वह भी बताया गया है, उसका उल्लेख भृगु उत्क्रांति बतलाते समय करेंगे ।

मनोमय कोष की उपरोक्त प्रकार से प्रस्तुति करने के पश्चात् (तैत्ति[३] २.४) ब्रह्म के अलौकिक गुण को (Transcendence) जोश भरे कथन से व्यक्त करते हैं : ''शब्द हताश हुए मन के साथ वापस लौट आते हैं ।'' आगे कहते हैं ''ब्रह्मज्ञानी कभी भयभीत नहीं होता ।'' प्रमेय–६ के अनुसार ब्रह्म इन्द्रियों व मन से परे होने के कारण इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, न

३. (तैत्ति २.४)
यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति ।

ही इसे समझा जा सकता है । (आदितत्त्व–४ अ) के परिणाम स्वरूप ब्रह्मज्ञानी निर्भय रहता है ।

५.२.३ आस्तिक तथा निरीश्वरवादी (तैत्ति २.६)[४]

इस खण्ड़ में एक ही सूत्र है जिसे ३ विभागों में निरीक्षण करेंगे :

१. ''निरीश्वर–वादी (संशयात्मा) का अस्तित्व नहीं रहता है, जबकि जीवनमुक्त कहते हैं कि आस्तिक का अस्तित्व निरन्तर रहता है ।'' संशयात्मा श्रुति के बताये मार्ग की अवगणना करते होने के कारण वे, ब्रह्म क्या है, इस बात से अज्ञान हैं । तो अब प्रश्न करते है – प्रश्न–१: क्या वास्तव में ब्रह्म का अस्तित्व है? इसका उत्तर तृतीय विभाग में दिया जायेगा ।

२. ब्रह्म इन्द्रियगम्य अथवा बुद्धिगम्य नहीं है (५.२.२; तैत्ति २.४.१) । इससे आस्तिक को शंका हो सकती है : प्रश्न–२: देह त्याग करने के पश्चात् क्या आस्तिक की परलोक गति होगी? निरीश्वरवादी को श्रद्धा नहीं है तो भी उसके लिये भी यही प्रश्न उठता है : प्रश्न–३: देहत्याग के पश्चात् क्या निरीश्वर–वादी की परलोक गति होगी?

३. श्रुति अब सर्जन की घोषणा करती है । ''मैं अनेक बनूँ, मैं जन्म लूँ । उसने यह सब उत्पन्न करके, उनमें प्रवेश किया तथा जड़ व चेतन, साकार व निराकार आदि रूप धारण किये ।'' सत्य को ही सर्जनकर्ता के रूप में स्थापित किया है । तदुपरांत बतलाते हैं कि जो सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम् है। उस ब्रह्म ने ही सत् का स्वरूप धारण किया । जैसे मिट्टी ही विविध उपकरणों का स्वरूप धारण करती है । इस प्रकार सर्जनकर्ता के रूप में 'सत्य' अब सत् बन रहा है । वास्तव में ''ज्ञानं'' चित् स्वरूप में तथा ''अनन्तं'' आनन्द में परिणित हो जाती है । इस प्रकार सर्जनकर्ता के रूप में वह ब्रह्म सच्चिदानन्द है । इस सूत्र से ब्रह्म की तटस्थ व्याख्या की गई है : यह सर्जनकर्ता ही ब्रह्म है । यह प्रश्न–१ का उत्तर है । यह है एकता में विविधता।

---

४. (तैत्ति २.६)

असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ।
सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा ।
इदँ सर्वमसृजत । यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य ।
सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च ।
सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ।।१।।

आनन्द-ब्रह्म : सभी पैदा हुई वस्तुओं में ब्रह्म का प्रवेश हुआ – यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वास्तविकता है । आत्मा स्वरूप में जो हृदय की गुफा में निवास करता है, उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है (५.२.१) । अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा तथा ज्ञानमय आत्मा एक दूसरे से भिन्न हैं तथा आगेवाला आत्मा पूर्व के आत्मा में समाया हुआ है । उपरांत आनन्दमय आत्मा ज्ञानमय आत्मा के भीतर समाया हुआ है, इसलिये वे हृदय की गुहा में साथ–साथ विचरते हैं । हम (५.२.५) में देखेंगे कि आनन्द–ब्रह्म सर्व लोकों के आनन्द की उच्चतम पराकाष्ठा है । आनन्दमय कोष आनन्द–ब्रह्म को बतलाता है । वह अन्य सभी की अपेक्षा ब्रह्म के समीपस्थ है । इसलिये इन्द्रियगम्य तथा बुद्धिगम्य कोषों के ज्ञान द्वारा ऊर्ध्वगामी होकर ब्रह्म के सान्निध्य में पहुँचना – यह उत्तम मार्ग है । महर्षि वरुण ने अपने पुत्र भृगु को यह मार्ग बताया है (५.३) । यही प्रश्न–२ का 'हाँ' में उत्तर है तथा प्रश्न–३ का 'ना' में उत्तर है । क्योंकि निरीश्वरवादी इस पाँच कदमवाली सीढी पर चढने को तैयार नहीं हैं, न ही वे अन्य कोई साधन अपनाने को उत्सुक हैं ।

५.२.४ अनुपम सर्जनकर्ता (तैत्ति २.७) :

व्याकृत सृष्टि (सत् व चित्) : अव्याकृत सृष्टि के विषय में ऊपर (५.२.३) में चर्चा की । वह अब नाम–रूप धारण करती व्याकृत सृष्टि के रूप में परिवर्तित हो रही है । ''प्रारंभ में यह सर्व अव्याकृत सृष्टि थी, उसमें से व्याकृत सृष्टि उत्पन्न हुई । उसने स्वयं में से ही स्वयं को उत्पन्न किया अतः वह सुकृत स्वयं–उत्पादित कहलाता है ।'' यहाँ श्रुति त्रिवृत्तिकरण (२.७.१) अथवा पंचीकृत (२.७.२) क्रिया का अध्याहार रखती है । ''स्वयं में से ही स्वयं की उत्पत्ति'' बतलाती है कि ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' – (३.३; प्रमेय–४) । यह परोक्ष रूप से ''एक तथा अद्वितीय (आदितत्त्व–१अ) का ही समर्थन करती है। साथ ही कह रही है कि ''ब्रह्म उपादान तथा निमित्त कारण है'' (३.२; प्रमेय–१; ३.३ प्रमेय–३) । ''सुकृत'' से ज्ञात होता है कि ब्रह्म चेतनायुक्त है । इसके चेतन से ही प्राणीजन व्यवहार करते हैं । ''ज्ञान'' की परिणिति चेतन में होती है ।

आनन्द-स्वरूप : ऊपर बताये गये अनुसार सत् स्वयं ही सृष्टि रूप से प्रकट हुआ । अब हम प्राणियों में ''आनन्द'' स्वरूप के प्रागट्य के विषय में

विचार करते हैं । श्रुति आगे कहती है, ''सुकृत (ब्रह्म) आनन्द का अधिष्ठान है । यदि यह आनन्द हृदय की गुहा में न रहा होता तो श्वासोच्छवास करने की तमन्ना किसे होती? यदि ब्रह्म का आनन्द–स्वरूप (आदितत्त्व–१ ब) हृदय में निवास न करता होता तो क्या जीने का कोई अन्य कारण होता?'' इस प्रकार सर्जनकर्ता ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है ।

विविधता में एकता : श्रुति ब्रह्म के अन्य चार लक्षणों का उल्लेख करती है : **अविचल, अशरीर, अव्यक्त तथा अनिलय** (जिसे किसी आधार की आवश्यकता न हो)। इनमें से प्रत्येक लक्षण सर्जनकर्ता को उसके द्वारा सर्जित प्रत्येक पदार्थों से विशिष्ट बतलाते हैं । ''जब उच्चाभिलाषी (मुमुक्षु) इन लक्षणों वाले सर्जनकर्ता में गुंथ जाता हैं तब वह निर्भय हो जाता है'' (समर्थ के आश्रय के कारण) । इस अवस्था में मुमुक्षु ''एक तथा अद्वितीय'' का ही अनुभव करता है और कहता है, ''जिसे द्वैत का आभास मात्र होता है, वही भयभीत होता है ।'' इस प्रकार जिसे द्वैत का आभास होता है उसे ऐसा लगता है कि कोई ऐसा भयंकर व त्रासजनक तत्त्व है कि जिसके डर से व्यक्ति थरथर काँपने लगता है । इस प्रकार यह सूत्र अद्वैतवाद के सूत्र ''एकमात्र तथा अद्वितीय'' को दृढता से संस्थापित करता है । यह सब (आदितत्त्व–१ अ) का निष्कर्ष है ।

५.२.५ आनन्द का परिमाण (तैत्ति २.८) : सर्वप्रथम ब्रह्म की श्रेष्ठता तथा एकाधिपत्य बतलाया गया है : ''उसके डर से दैवीतत्त्व, जैसे कि सूर्य, पवन, अग्नि आदि अपना कर्तव्य दोषरहित होकर पूर्ण करते हैं ।'' हमने (२.७.२) में बताया था कि इस अचूक नियमितता से ''समय'' का उद्‌भव हुआ, और इस काल के शिकंजे में अत्यधिक प्रपंच का योग है । काल ही सभी का अन्त निश्चित करता है, केवल ब्रह्म ही समय (काल) की परिसीमा से बाहर है ।

अब ''ब्रह्मानन्द'' का मूल्यांकन करके श्रुति हमें अमर व निर्भय होने के लिये ललचाती है । पृथ्वी पर के सर्वोच्च आनन्द को यदि १ मात्रा दी जाय तो उससे ऊँचे लोक का आनन्द १०० गुना होता है । इस प्रकार पृथ्वी तथा हिरण्यगर्भ के बीच के लोकों का आनन्द इसी तरह गुणक बनकर वृद्धि को प्राप्त होता है । (इन दोनों के बीच में ५ लोक हैः मनुष्य–गंधर्व, देव–गंधर्व,

याज्ञिक देवलोक, कर्मिक देवलोक, देवलोक (निष्काम भाव – यहां राजा इंद्र है, गुरु बृहस्पति हैं, प्रजापति अर्थात् विराट का देह तीन लोक हैं।)) माया (प्रपञ्च) जगत्, का सर्वोच्च आनन्द तो हिरण्यगर्भ लोक में ही प्राप्त होता है। परन्तु यह आनन्द सीमित होने के कारण मर्यादित है। (बृहद् ४.३.३३) में भी इसी प्रकार मूल्यांकन किया गया है। (बृहद्[५] ४.३.३२) ''ब्रह्मानन्द के एक रजकण के समान आनन्द में ही ये लोग जीते हैं।'' भावार्थ यह है कि इस प्रपञ्च का सर्वोच्च आनन्द ब्रह्मानन्द के एक रजकण जितना ही है। इस प्रकार प्रपञ्च के समस्त आनन्द का योग भी परिमित ही है। यह अनन्त ब्रह्मानन्द के प्रमाण में अत्यन्त अल्प है। इसलिये ब्रह्म को ही जानो।

अब श्रुति प्रतिपादित करती है कि जो ब्रह्म आत्मा स्वरूप में प्रत्येक सर्जित तत्त्व में है वह सर्व में समान है। (तैत्ति २.८.५) ''जो (आत्मा) हृदय की गुहा में निवास करता है वही सूर्य में भी है।'' जो इस प्रकार के एकत्व का दर्शन करते हैं वे ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं, तथा निर्भय हो जाते हैं। (आदितत्त्व–३ के परिणाम स्वरूप तथा ३.३.१, उपप्रमेय–१)।

५.२.६ ज्ञानी को पश्चाताप कैसा? (तैत्ति २.९) :

अन्त में ज्ञानी की महिमा का गुणगान किया जाता है। ''ज्ञानी ब्रह्मानन्द का आस्वादन करने के पश्चात् किसी से डरता नहीं है। वाणी अथवा मन इसका पार नहीं पा सकता है।'' ऐसा ही आख्यान (५.२.२, तैत्ति २.४) में है। यह आख्यान ब्रह्म के मनोमय कोष के सम्बन्ध में ही था, जिससे डर का अस्तित्व है। परन्तु अब ब्रह्मानन्द प्राप्त होने पर डर का कारण ही नहीं रहता (अद्वैत के कारण)। अब इस ज्ञानाग्नि द्वारा प्रकाशमान व्यक्ति ने यदि कुछ किया न हो, तो उसका पश्चाताप नहीं रहता, क्योंकि उसके सभी कर्म भस्मीभूत हो गये हैं, तथा इसी कारण सत्कर्म करने का आनन्द मनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

---

५. (बृहद् ४.३.३२)

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।।३२।।

५.३ भृगुवल्ली (भार्गवि विद्या) (तैत्ति-३.१-३.६) :

ऊपर (५.२.२) में पंचकोष का सैद्धान्तिक दृष्टि से निरूपण किया गया । इन कोषों में क्रमानुसार आगे बढने पर ब्रह्म का उत्कृष्ट स्वरूप प्रकट होता है । आनन्दमय कोष तो ब्रह्म का सूचक होता है, क्योंकि ब्रह्म इसके अत्यन्त समीप होने से (५.२.२) पुछ्य के निकट है । अब इसपर अमल किया जा रहा है । यहाँ यह जानने योग्य है कि भृगु को उसके पिता वरुण पाँच कदमवाली सीढी पर चढाकर ब्रह्मज्ञान अर्पण करते हैं ।

५.३.१ अन्नमय कोष के साथ संयोजन (तैत्ति-३) : भृगु अपने पिताश्री वरुण के पास जाकर विनती करते हैं,[६] ''मुझे ब्रह्म का ज्ञान दीजिये'' । पिताश्री ऊपर बताई हुई तरकीब के अनुसार सर्वप्रथम अन्नमय कोष की व्याख्या करते हैं : ''अन्न, प्राण, आँख, कान, वाचा, मन – ये सभी ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के साधन हैं ।'' उपरान्त आदेश देते हैं :

आदेश : ''जिसमें से यह सर्व पैदा होता हैं उसे जानने की आतुरता प्राप्त करो । जिसकी ओर यह सब गतिमान रहता है तथा जिसमें यह सब लय होता है - यही ब्रह्म है ।''

यह आदेश ब्रह्म की तटस्थ (कार्य–लक्षण) व्याख्या[७] करता है (साथ में देखें ५.२.३ (३)) । भृगु ने ब्रह्म को सर्व प्राणियों का सर्जनकर्ता समझकर उसपर मनन व निदिध्यासन किया । उन्हें समझ में आया कि ब्रह्म ने अन्न को पैदा किया, तथा प्राणी उस अन्न से जन्मते हैं, तथा उनका उससे पोषण होता है । तथा अन्त में उसी में लय होते हैं (प्रमेय–२, ३.३) । इससे आदेश के लक्षणों का समर्थन होता है । ब्रह्म के इस स्वरूप को विराट कहते हैं । यह

६. सत् विद्या (छांदो–६) में श्वेतकेतु अज्ञानी होने के कारण उसके पिताश्री प्रश्न करते हैं (१.४) तथा स्वयं ही उत्तर देते हैं। मुण्डक उपनषद् में शौनक ज्ञानी गृहस्थ होने के कारण स्वयं ही गुरू के पास जाकर प्रश्न करते हैं (७.२.१) । यहाँ भृगु शास्त्रज्ञ होने के कारण उनको ज्ञात है कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्म ही है, अतः प्रार्थना करते हैं; ''मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये।'' इस प्रकार प्रश्न व्यक्तित्व का द्योतक है।

७. यों तो यह व्याख्या नहीं है, ब्रह्म का सूचन मात्र है, क्योंकि एक से अधिक तत्व इस स्थिति को सन्तुष्ट कर सकते हैं। यह हम यहाँ देखेंगे। व्याख्या उसे कहते हैं जो मात्र एक ही वस्तु का निर्देश करती है। यही व्याख्या की व्याख्या है।

अन्नमय कोष का समष्टि स्वरूप है । वस्तुतः ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप तो (५.५.४ – विविधता में एकता) में बताये अनुसार अविचल, अशरीर, अव्यक्त तथा अनिलय है । इस साधना का परिणाम हैः (तैत्ति २.२) ''जो अन्न को ब्रह्म समझकर साधना करते हैं वे अन्न से पैदा हुई सर्व वस्तुओं की एकता को साधते हैं ।'' यह है विराट, समष्टि स्थूल पुरुष । आदितत्त्व–४ (क) इसका प्रमाण है ।

(केन २.१) मुमुक्षु को सचेत करता है कि ब्रह्म का जो स्वरूप सामान्यतः मानवों में है, उससे उत्कृष्ट स्वरूप देवताओं में है, उसे ब्रह्म समझने की भूल नहीं करनी चाहिये (२.६.२ – ब्रह्म के स्वरूप) । भृगु को शास्त्र ज्ञान तो था ही । उसे विचार आया कि यह तो उत्पन्न हुई वस्तु है अतः (आदितत्त्व–१ क) के अनुसार उसका अन्त भी निर्विवाद है ही – इसलिये यह ब्रह्म नहीं है । वह पिताश्री के पास जाकर पुनः विनती करता है, ''मुझे ब्रह्म ज्ञान कराइये ।'' ब्रह्म का निर्देश तो आदेश में किया हुआ ही है। अब पिताश्री परामर्श देते हैं : ''तप (मनन, निदिध्यासन) से ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा करो । तप ही ब्रह्म है ।''

५.३.२ प्राण शक्ति के साथ संयोजन (तैत्ति ३.३) : अब भृगु प्राण शक्ति पर तपश्चर्या करते हैं । यह प्राणमय कोष है, जो आदेश की शर्तों को सन्तुष्ट करता है । इसका परिणाम है : (तैत्ति २.३) ''जो प्राण शक्ति की तपश्चर्या करते हैं, वे संपूर्ण जीवन भोगते हैं ।'' यह हिरण्यगर्भ की प्राण शक्ति है । भृगु को ज्ञात है, कि प्राण तो पैदा हुआ तत्त्व है, अतः उसे अमरत्व प्राप्त होना संभव नहीं है । पुनः पिताश्री के पास जाकर विनती करते हैं । वही आदेश मिलता है : ''तप से ब्रह्म की जिज्ञासा करो, तप ही ब्रह्म है ।''

५.३.३ मानसिक शक्ति स्वरूप हिरण्यगर्भ के साथ संयोजन (तैत्ति ३.४): पिताश्री की आज्ञा से अब भृगु प्राण की मानसिक शक्ति–मनोमय कोष पर तपश्चर्या करते हैं, क्योंकि प्राणी मन के संकल्प से जन्म लेते हैं, उसीसे जीवन व्यतीत करते हैं तथा उसी में लय होते हैं । इस प्रकार पिताश्री के आदेश को समर्थन प्राप्त होता है । यहाँ श्रुति ही मन की मर्यादा को

प्रकाशित करती है : (५.२.२; तैत्ति २.४) ''ब्रह्म शब्दातीत तथा भावातीत है (३.३; प्रमेय–६), अतः शब्द तथा मन ब्रह्म को प्राप्त किये बिना ही लौट आते हैं।'' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान शब्द, अथवा कल्पना मन का विषय नहीं है। ऊपर का सूत्र कहता है, ''जिसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो गई है, वह कभी भयभीत नहीं होता'' (आदितत्त्व–४ अ के परिणाम स्वरूप) । भृगु को ध्यान में आया कि ब्रह्म के दर्शन तो हुए ही नहीं । पिताश्री के पास जाकर पुनः प्रार्थना करते हैं, तथा पुनः उत्तर भी वही मिलता है, ''तप से ब्रह्म की जिज्ञासा करो, तप ही ब्रह्म है ।''

५.३.४ विज्ञान-शक्ति स्वरूप हिरण्यगर्भ के साथ संयोजन (तैत्ति ३.५): अब भृगु मनोमय कोष से ऊपर की अवस्था पर तपश्चर्या करते हैं । यह है विज्ञान–शक्ति वाला विज्ञानमय कोष । प्राणी विज्ञान के कारण ही जन्म लेते हैं, उसी के द्वारा उनका पोषण होता है, तथा उसी में उनका लय होता है । इस प्रकार आदेश की शर्तें सन्तुष्ट होती हैं । इस तपश्चर्या का परिणाम (तैत्ति २.५) के अनुसार : ''जो ज्ञान ब्रह्म की तपश्चर्या करते हैं उनके सभी पापों का नाश होता है तथा वह प्रत्येक आनन्ददायक वस्तु के आनन्द का भोग करता है ।'' भृगु को ज्ञात है कि यह आनन्द तो क्षण भंगुर है । अतः पुनः पिताश्री से विनती करते हैं, तथा पुनः वही उत्तर प्राप्त करते हैं ।

५.३.५ आनन्द स्वरूप ब्रह्म के साथ संयोजन (तैत्ति ३.६) : अब भृगु आनन्दमय कोष–आनन्द स्वरूप ब्रह्म की तपश्चर्या करते हैं, वह आदेश का समर्थन करता है । ''(आनन्द स्वरूप ब्रह्म को जाननेवाला) उसमें दृढता से स्थित होता है । वह अन्न का मालिक व भोक्ता बनता है । गोधन तथा वंशावली से महान् बनता है । उस पर पवित्रता की झलक तथा भव्यता स्पष्ट दिखाई देती है ।'' इस प्रकार (आदितत्त्व–४ क) के अनुसार भृगु आनन्दमय ब्रह्म–स्वरूप, जो हृदय की गुहा में प्रस्थापित है, उसे प्राप्त करते हैं ।

निष्कर्ष : इस व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् क्या प्राप्त होगा, यह श्रुति दर्शाती है, (तैत्ति ३.१०.५–६) : ''उसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषों रूपी ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति होती है । (इससे भौतिक तथा सूक्ष्म शरीर पर विजय प्राप्त करके अंतर–दृष्टि पाते हैं)

(टीप ३.१, कठ २.१.१) ''इन्द्रियाँ बहिर्गामी होने के कारण वे अन्तरात्मा को नहीं देख सकती हैं।'' अब, इन्द्रियों ने अंतर–दृष्टि प्राप्त की है। वे सभी लोकों में सर्वत्र भ्रमण कर सकती हैं, तथा सर्व लोकों में उनकी सत्ता रहती है। वे विराट तथा हिरण्यगर्भ है। वे अन्न हैं तथा अन्न का भोग करनेवाली भी हैं – आदि – इस प्रकार यह व्यक्ति ही सब कुछ बनता है तथा वह सभी में एकरूप तथा तादात्म्य है, अतः उसे कोई भय नहीं है – वह ब्रह्म बन गया है।

प्रकरण-६

वेदान्त के मूल - ऐतरेय उपनिषद् में

६.१ प्रावेशिक :

सत् विद्या (२.५, छांदो-६) तथा (५.२ तैत २.१) की तरह यह उपनिषद् भी निर्गुण, अमर व अचल ब्रह्म को ही सर्जनकर्ता के रूप में प्रस्तुत करता है । इसमें उदात्त कल्पनाओं से भरपूर मर्मस्पर्शी सूत्र हैं । इसमें दी हुई आसमान को छूने वाली उपमाओं को ध्यानपूर्वक समझने की आवश्यकता है । इस उपनिषद् में तीन प्रकरण हैं । प्रथम प्रकरण में पंच महाभूत, उनकी तन्मात्रा तथा उनके देवताओं की उत्पत्ति का रेखा चित्र बनाकर समष्टि-मानव तथा विराट के मानव जैसे अंगों का निरूपण किया गया है । द्वितीय प्रकरण में - जो ब्रह्मविद् नहीं हैं, उन्हें जन्म-मरण के चक्रव्यूह में फँस कर जो यातनायें भोगनी पडती हैं, उनका अक्षरशः चित्र अंकित किया गया है । तदुपरान्त वामदेव ने किस प्रकार इस संसार के बन्धनों रूपी जंजीर से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त किया, इसका विवरण मुमुक्षुओं के लिये एक सुन्दर उदाहरण रूप है । अन्तिम प्रकरण में - प्रथम दो प्रकरणों में दर्शाये सिद्धान्तों का उपयोग (प्रयोजन) समझाया गया है, जिससे संसार के बन्धनों से मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त किया जा सके ।

हमारा हेतु - इसमें दर्शाये हुए सिद्धान्त वेदान्त के मूलों पर आधारित है - यही सिद्ध करना है । इसी दृष्टि से सिद्धान्तों के प्रयोजन की भी चर्चा की जायेगी ।

६.२ ब्रह्म, सर्जनकर्ता :

६.२.१ समष्टिरूप स्थूल शरीर : (ऐत १.१.१-४) ''प्रारम्भ में यह सब निर्गुण आत्मा ही था । कोई चिडिया भी नहीं दिखाई देती थी । उसने विचार किया कि मैं लोकों का सर्जन करूँ ।''

यह हमारे (आदितत्त्व-१ अ) को ही शब्दान्तर से व्यक्त करता है । इसका अन्तिम भाग आदितत्त्व-२ का प्रतिबिम्ब है । ''सत्'' को यहाँ आत्मा कहा है । ''कोई चिडिया भी दिखाई नहीं देती थी'', अर्थात् ''एक

और अद्वितीय'' के विचार का तुरन्त ही पालन होता है और उपनिषद् कहता है कि आत्मा ने अंभस (जिसमें बादल और पानी का समावेश है), स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी तथा जल पैदा किये । यहाँ सर्जन का क्रम नहीं पाला गया है, केवल आवश्यक अवयवों को ही अंकित किया गया है, जबकि अपने आदितत्त्व–२ व ३ सर्जन को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा ही समवायी कारण है । क्योंकि अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही नकारा गया है । जैसे मकडी जाल फैलाती है उसी तरह विश्व का सर्जन हुआ है ।

अब जिस दृष्यमान प्राकृतिक जगत का सर्जन हुआ – उसकी रक्षा के लिये उसने समष्टि मानव विराट का सर्जन जल में से किया, और विराट के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों की त्रिपुटी पैदा की : (इन्द्रिय; उसकी क्रियाशक्ति; इन्द्रिय का मूलाधार रूप देव): (१) मुख, वाचा, अग्नि (२) घ्राणेन्द्रिय; गंध; पृथ्वी; (वैसे देखा जाय तो गंध पृथ्वी की तन्मात्रा है; वायु उसकी वाहक है), (३) चक्षु; दृष्टि; सूर्य; (४) कान; श्रवण; दिशायें, (५) चर्म; स्पर्श; वायु । विराट की अन्य तीन त्रिपुटी इस प्रकार सर्जित हुई: (१) हृदय; मन; चन्द्र; (२) नाभि (गुदा का मूल); अपान; मृत्यु (यम); (३) शिश्न; वीर्य; जल ।

ये सब नाम–रूप आदितत्त्व–३ के त्रिवृत्तिकरण (पंचीकरण) के बाद सर्जित हुए ।

६.२.२ देवों की माँग (ऐत १.२) : विराट ने मानव की जैसी इन्द्रियाँ उत्पन्न करते हुए ८ देव (उदाहरणतः सूर्य, चन्द्र,...) पैदा किये थे; इसकी जानकारी उपरोक्त आठ त्रिपुटियों से होती है । अब उनमें भूख–प्यास की इच्छा पैदा की । देवों ने निवासस्थान की माँग की, जहाँ बैठ कर भूख–प्यास मिटाई जा सके । उनके आश्रय स्थान के लिये गाय, घोड़े तथा अन्य प्राणी बताये, परन्तु देवों ने अपने निवास हेतु मानव को पसन्द किया । उन्होंने अपने–अपने निवास में प्रवेश किया (अग्निदेव वाचा में, सूर्य देव आँखों में, ... आदि) । अब भूख–प्यास को भी निवासस्थान चाहिये । यज्ञ में जो हवन अर्पण किया जाता है, उसमें उनका निवास है ।

६.२.३ विराट की कश्मकश : आवास प्राप्त होने पर अन्न की आवश्यकता पडी । (ऐत १.३.१–१०) ''इन्द्रियाँ और उनकी साधन सामग्री पैदा करने के पश्चात् उन्हें अन्न–खुराक की आवश्यकता हुई । सर्जन कर्ता ने समाधि करके अनाज पैदा किया ।'' अब अनाज किन ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य है, उसका नाटकीय ढंग से वर्णन करते हैं : ''विराट को ज्ञात नहीं था कि किस इन्द्रिय से अन्न ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पहली ही बार उन्हें यह मिजबानी (भोजन का आनन्द) प्राप्त हो रही था । उसने वाणी के द्वारा अन्न ग्रहण करने का प्रयास किया, परन्तु उसे हताशा प्राप्त हुई । यदि वह वाणी से भोजन कर सका होता, तो केवल उच्चारण मात्र से ही उसकी भूख शान्त हो जाती । अब उसने नाक, आँख, कान, चर्म तथा मन के द्वारा ग्रहण करने का प्रयास किया, पर हर बार निराशा ही मिली । यदि वह नाक (आँख, कान, चर्म, मन) के द्वारा खा सका होता तो सूंघने (देखने, सुनने, स्पर्श करने अथवा विचारने) मात्र से ही उसकी क्षुधा शान्त हो जाती । अन्न का उत्पादन निरर्थक तो नहीं ही था । अपान उसे ग्रहण करने में समर्थ हुआ ।''

यह मात्र एक जाना हुआ तथ्य है कि प्राण तथा अपान से शरीर की प्रत्येक इन्द्रियाँ व अवयवों का पोषण होता है, जिसमें व्यान, समान तथा उदान पाचन तथा सर्वत्र एक समान वितरण करने में सहायक होते हैं ।

सर्जनकर्ता का असमंजस : (ऐत १.३) (#११–१३) सर्जनकर्ता ने इस कश्मकश को वात्सल्यपूर्ण काव्य शैली में प्रस्तुत किया है, ''ये प्राणी मेरे बिना कैसे जीयेंगे? दोनों में से कौन से मार्ग से मैं इसमें प्रवेश करूँ? इन्द्रियों में शरीर की सभी क्रियायें करने की सामर्थ्य है, तो मेरा क्या कर्तव्य है? उसने मस्तक के शिखा स्थान से प्रवेश किया । उसके तीन निवासस्थानः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति (निःस्वप्न) अवस्थायें हैं । क्या उसे किसी प्रकार का ज्ञान है? वह जानता है कि ''मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं सर्वत्र स्थित हूँ; मैं स्वयं को ही जानता हूँ, इसीलिये उसका नाम इन्द्र है । लोग उसे इन्द्र (श्रेष्ठ) कहते हैं''।

हमारा आदितत्त्व–३ कहता है कि ब्रह्म ने स्वयं ही अपने द्वारा सर्जन की गई प्रत्येक वस्तु में प्रवेश किया । ब्रह्म के स्वरूपों का निरूपण (२.६.२) में किया गया है । आदितत्त्व–४ के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म बन जाता है । इसीलिये ऊपर कहा गया है कि वह स्वयं को ब्रह्म रूप में जानता है, अतः वह ब्रह्म ही है (८.२.१ बृहद् १.४.१०) ।

६.३ प्राणियों का निर्माण :

ऊपर हमने विराट का मानव स्वरूप में वर्णन किया तथा समष्टि इन्द्रियाँ जो सूक्ष्म शरीर रूप से प्राणियों में प्रवेश करती हैं, उनका निरूपण किया। अब व्यष्टि रूप से प्राणियों के स्थूल शरीर, विशेषतः मानवजाति के स्थूल शरीर के विषय में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

६.३.१ जन्म-मरण का चक्र (ऐत २.१.१-४) : ''अन्न से पोषित इस शरीर के अवयवों से पुरुष का वीर्य बनता है। इस लोक व परलोक में विचरते जीवों का अधिष्ठान वीर्य है। पत्नी जब इस वीर्य को स्वीकार करती है तब इस जीव का प्रथम जन्म कहलाता है।

वीर्य अब गर्भ स्वरूप में विकसित होता है। इस विकास से माता को पीड़ा नहीं होती, क्योंकि वह शरीर का एक अवयव बन जाता है। माता जो अन्न खाती है उससे गर्भ का पोषण होता है। जब बालक का जन्म होता है, तब यह विचरते जीव का दूसरा जन्म कहलाता है। वीर्य पिता स्वरूप ही है, अतः पिता बालक की देखभाल करता हैं। तदुपरान्त विश्व को स्थाई रखने हेतु नवजात की देखभाल आवश्यक है, यदि ऐसा न हो तो मानवों का अस्तित्व ही पृथ्वी पर न रहे।

पिता की मृत्यु होने से पूर्व उसे तीन प्रकार के कर्तव्य (देव, पितृ तथा ऋषि का ऋण अदा करना) पूरे करने होते हैं, वह इन कर्तव्यों को अपने पुत्र को सोंपता है। पिता मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः जन्म लेता है, यह पिता का तीसरा जन्म है।''

यहाँ विचरता जीव, जिसका अभी नया जन्म हुआ है, उसकी चर्चा चल रही है, तो फिर तीसरा जन्म पिता का किस प्रकार? हम यदि पिता की बात करें तो पिता का (स्वयं का) बालक की तरह का जन्म उसका दूसरा जन्म था, और उससे पूर्व जब उसका जीव भटकता था, तथा उसकी माता ने उसे गर्भ में स्वीकार किया था, तब वह उसका प्रथम जन्म था। अब तीसरे जन्म की चर्चा करें। यह जन्म पितृलोक, स्वर्ग अथवा पृथ्वी पर भी हो सकता हैं।

पितृलोक अथवा स्वर्ग में गये हुए जीव के पुण्य का क्षय[१] होते ही यह जीव किसी वीर्य द्वारा पुनः गर्भ में आकर जन्म ले सकता है । इस चक्र को तोडना हो, तथा अजर–अमर बनना हो तो ब्रह्मज्ञानी बनना पड़ता है । यही एकमात्र उपाय है ।

हमारा प्रमेय–२ (३.३) उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के विषय में सूचित करता है, तथा इहलोक–परलोक भ्रमण (२.८.२ आदितत्त्व–४ ब) में विस्तार से समझाया गया है ।

६.३.२ वामदेव का छुटकारा : पुनर्जन्मों के चक्र का चित्र प्रस्तुत करने के पश्चात् उसमें से निकलने का मार्ग बतलाना आवश्यक है । यह सम्भव है; इसकी पुष्टि कराने हेतु श्रुति प्रथम हमें – वामदेव इस चक्र में से कैसे छूटे – यह बताते हुए पराविद्या की दिशा में प्रयाण करने का प्रोत्साहन देती है ।

(ऐत २.१.५–६) ''माता के गर्भ में सोया हुआ मैं देवों के जन्म के विषय में जानता था । बहुत से फौलादी किलों से घिरा हुआ होने के कारण छूटने की कल्पना करना भी कठिन था । बाज पक्षी की तरह मैं ब्रह्मज्ञान की मदद से छूट गया ।'' वामदेव स्पष्ट करते हैं कि यह चक्र मानवों तक ही सीमित नहीं है, देव भी इसमें फँसे हुए हैं । ब्रह्मज्ञान की महिमा बतलाते हुए वामदेव कहते हैं कि ऊर्ध्वगति ही एक उपाय है । शेष तो मजबूत किलों में कैद होने कारण अन्य कोई मार्ग नहीं है । अब हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का अवलोकन करते हैं ।

(आदितत्त्व–४ २.८ परलोक गमन तथा मुक्ति विषयक चर्चा करता है।

६.४ प्रयोजन (Application) : यहाँ ब्रह्म के एक से दूसरे के श्रेष्ठ स्वरूपों की चर्चा नहीं करनी है, सीधा ब्रह्म का ही ध्यान (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) करना हमारा लक्ष्य है । अगम्य पर ध्यान करना कठिन है, अतः यह पद्धति उच्च प्रकार के मुमुक्षुओं के लिये है । यह स्तुति सर्जनकर्ता ब्रह्म तथा उसके विशिष्ट गुणों पर है ।

पहले हमने जो दो प्रकरणों में ब्रह्म विषयक चर्चा की है, उसका विहंगावलोकन करते हैं : (एक तथा अद्वितीय) ब्रह्म ने प्रारम्भ में पंचमहाभूत

१. पंचाग्नि विद्या (छांदो ५.३–५.१०) नवजातकी कुटिल यात्रा विस्तार से बताते है(२.८.४)।

उत्पन्न किये । उनमें से दैवी अनुभूतियों की उत्पत्ति की । विराट, समष्टि मानव का निरूपण करके उसके (समष्टि) सूक्ष्म शरीर की रचना बताई । इस प्रकार व्यष्टि स्वरूप की पूर्वभूमिका तैयार की । अब जन्म–मरण के प्रत्येक चक्र में तीन प्रकार के जन्म बताये । इस प्रकार की भीषणता में से वामदेव कैसे छूटे, यह बताया । अब हमें अजर–अमर होने का मार्ग दर्शाया गया है उसका हम संक्षेप में अभ्यास करेंगे । इस स्तुति का मनन व निदिध्यासन वारंवार करना चाहिये ।

''(ऐत ३.१.१–३) इन दो में से आत्मा कौन है? क्या वह वही है कि जिससे हम देख सकते हैं, सुन सकते हैं, सूंघ तथा बोल सकते हैं? (हाँ, अब निर्विकार ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप का भौतिक स्वरूप चित्त है, उसके विकार) वह (ब्रह्म) ही यह हृदय तथा मन है । वही चेतन, आधिपत्य, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प आदि का प्रतीक है । ये सब उसके अलग–अलग नाम हैं । (अब सर्वं खलु इदं ब्रह्मः) यही ब्रह्म हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, अंडज, जीवज, स्वेदज तथा उद्भिज है । जीव, चल व अचल – ये सब वही है । वही अणोरणीयान् तथा महतोमहीयान् है, तथा वही इन सब (छोटे बड़े प्राणियों) का कारण है ।

यह सब उसके चेतन के कारण रूप से है । यही चेतन इन सबको अपने अस्तित्व का ज्ञान कराता है । उसका चेतन ही जगत का चक्षु है; और जगत का अन्त भी है । **चेतन ही ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म) ।''**

अब इस स्तुति का फल (ऐत ३.१.४) : ''आत्मा, जो चेतन स्वरूप है, उसके सहारे से ही यह जगत से ऊपर उठता है । उसे स्वर्गीय लोक में सर्वकामना, सर्व संकल्प सिद्ध होते हैं और वह आत्मा अमर होती है ।''

हमारे निरीक्षण तथा आदितत्त्व ऊपर वर्णित समस्त उक्तियों को समाविष्ट कर लेते हैं ।

हमने निर्गुण ब्रह्म को सत्–चित्–आनन्द स्वरूप बताया है । उसका सत् गुण (छांदो–६) सत्–विद्या में, चित् गुण इस उपनिषद् में तथा आनन्द गुण तैतिरीय उपनिषद् में उभारा गया है ।

प्रकरण-७

वेदान्त के मूल - मुण्डक उपनिषद् में

७.१ प्रावेशिक :

यह उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभाजित है तथा प्रत्येक मुण्डक के दो उपविभाग हैं। प्रथम मुण्डक अपरा-विद्या, विषयक तथ्य प्रस्तुत करता है। इस विद्या से भौतिक फल प्राप्त होते हैं। यह चित्त-शुद्धि के लिये आवश्यक साधन है। (मुण्ड १.१.६-९) परा-विद्या में प्रवेश करता है। द्वितीय मुण्डक के प्रथम उप-विभाग में अपरा-विद्या के सिद्धान्त निर्देशित किये गये हैं। द्वितीय मुण्डक के द्वितीय उपविभाग में बताये गये सिद्धान्तों द्वारा अनुलक्षित जीवन का परम ध्येय-मोक्ष - कैसे सिद्ध किया जा सके, इस विषय का मार्गदर्शन किया गया है। तृतीय मुण्डक में विशिष्ट सावधानियाँ, माधुर्य पूर्ण सूचनायें तथा अलंकारिक रूपक कथायें प्रस्तुत की गई हैं, जो मुमुक्षुओं के लिये प्रोत्साहक हैं। इस विषय को प्रस्तुत करते समय परा विद्या के सिद्धान्त तथा उन्हें लक्ष्य करके दर्शाये गये प्रयोजन, जो हमारे वेदान्त के मूलों (१.६) पर आधारित हैं, इसका समर्थन करेंगे।

कोष्टक में बताई गई संख्या (#XX) उस विभाग के श्लोक की संख्या है।

७.२ ब्रह्म, सर्जनकर्ता:अधिकतर उपनिषदों में ब्रह्म की पहचान सर्जनकर्ता के रूप में दी गई है। यहाँ सर्जन क्रिया विशिष्ट रूप से बताई गई है।

७.२.१ ब्रह्म के लक्षण (मुण्ड १.१) (#३-६) : शौनक, एक विद्वान गृहस्थ, महर्षि अंगीरस को सांस्कृतिक विधिपूर्वक प्रणाम करके प्रश्न करते हैं: ''मुझे एक ऐसी वस्तु का ज्ञान दीजिये, कि जिसके ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाय।'' महर्षि उद्दालक ने ऐसा ही प्रश्न अपने पुत्र से करके उसे उसका ज्ञान दिया था (१.५)। महर्षि अंगिरस कहते हैं कि अपरा विद्या से मात्र भौतिक फल ही प्राप्त होते हैं, परन्तु परा विद्या से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तथा उस ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो सकता है। महर्षि उद्दालक वेदान्तिक सिद्धान्तों को तर्कशास्त्र से स्थापित करते हैं परन्तु उनका प्रयोजन

नहीं बतलाते । जबकि महर्षि अंगिरस पूर्व भूमिका के साथ वेदान्तिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर उनका प्रयोजन (application) भी बतलाते है ।

हम जिसकी खोज कर रहे होते हैं उसकी स्पष्ट व्याख्या दी गई हो तो कार्य सुगम हो जाता है । अतः अब जो अपरिभाष्य है, उसको तटस्थ परिभाषा से समजा जाता है । (#६) ''उसे न तो समझा जा सकता है न ग्रहण किया जा सकता है । वह अनादि है, तथा उसे आँख, कान, हाथ अथवा पैर नहीं है । वह विभु (अनेक स्वरूप धारण करनेवाला) है । वह सर्वत्र, अति–सूक्ष्म तथा अपरिवर्तनशील है । तथा वही इस सर्व का कारण है ।'' हमारा (३.३, प्रमेय–६) सिद्ध करता है कि ब्रह्म अलौकिक है । ये लक्षण भी यही जताते हैं कि ब्रह्म स्वगत, सजातीय तथा विजातीय लक्षणों से पर है । आगे वे बतलाते हैं कि ''वह इस सर्व का कारण है ।'' (प्रमेय–१ तथा प्रमेय–३; ३.३) । अब वह उपादान कारण है, ऐसा बतलाते हैं ।

७.२.२ उपादान कारण (#७) :''जैसे मकड़ी जाला फैलाती है, जैसे (शरीर व सिर पर) बाल पैदा होते हैं, जैसे जमीन पर लील (काई) फूट निकलती है, उसी प्रकार ब्रह्म में से प्रकृति प्रकट होती है (#८–९)। इस ब्रह्म में से अन्न (माया), और उसमें से (समष्टि) प्राण तथा मन, पंच महाभूत, लोक तथा कर्म से उपलब्ध अमरत्व (सापेक्ष) पैदा हुए । इस सर्वज्ञ तथा सर्वविद्(ब्रह्म)में से हिरण्यगर्भ, तथा उसमें से नाम, रूप व अन्न उत्पन्न हुए ।''

हमारे आदितत्त्व–२ व ३ यह सब विस्तारपूर्वक समझाते हैं ।

७.२.३ अपरा-विद्या (मुण्ड १.२) : यहाँ अपरा–विद्या की निरर्थकता समझाई जा रही है (#१०) । भ्रमित लोग ही यह मानते हैं कि श्रुति–स्मृति में बताये गये कर्म–काण्ड उच्चतम है, वे मुक्ति का अर्थ नहीं समझते । ये लोग स्वर्ग में सत् कर्मों का फल भोगकर नीचे के लोकों में आते हैं और समालोचना करते हैं : (#१२–१३) ''(प्रपंच में) ऐसा कुछ भी नहीं है जो कर्म (क्रिया–काण्ड) का फल न हो । अतः समिध लेकर वेद (परा–विद्या) के पारंगत गुरू के पास जाना चाहिये, जिससे अक्षरपुरुष की प्राप्ति हो ।'' शौनक यही सलाह मानकर महर्षि अंगिरस के पास गये थे ।

७.३ अक्षर पुरुष :

उपरोक्त सलाह को ध्यान में रखते हुए परा–विद्या की साधना करनी चाहिये, जिसके फल स्वरूप अक्षर पुरुष उपलब्ध हो सके ।

७.३.१ ब्रह्म, सर्जनकर्ता (मुण्ड २.१) : यहाँ ब्रह्म की अनन्य तथा अद्‌भुत सर्जन शक्ति का गुण गान है :

७.३.१.१ ब्रह्म का स्वरूप : सर्जन के समय ब्रह्म जो रूप धारण करता है, यहाँ उसका वर्णन है : (#२) ''यह पुरुष देदीप्यमान, अप्राकृत तथा निराकार है । शरीर की अपेक्षा यह अन्दर व बाहर है । इस अजन्मा पुरुष के प्राण व मन नहीं है, तथा वह माया से परे है ।''

(३.३ प्रमेय–६) के अनुसार ब्रह्म अप्राकृत है; अजन्मा (१.६ आदितत्त्व–१ अ) है; शरीर के भीतर व बाहर ब्रह्म ही है क्योंकि ''यह सब ब्रह्म ही है'' (३.३ प्रमेय–४) । (३.३ प्रमेय–३) साबित करता है कि ब्रह्म उपादान तथा निमित्त कारण है तथा (१.६, आदितत्त्व – ३) कहता है कि ब्रह्म के चेतन से ही सभी चेतनाशील वस्तुओं में चेतन होता है । इस प्रकार अन्दर या बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका कारण ब्रह्म न हो । वह माया से उच्चतर है, क्योंकि माया इसी की शक्ति है (२.६.१) । माया इसीके आधीन है ।

७.३.१.२ अव्याकृत जगत (मुण्ड २.१) (#१-३) : ''जैसे धधकती हुई अग्नि में से चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में से भिन्न–भिन्न प्रकार के अनेक तत्त्व पैदा होते हैं, जो उसके जैसे ही हैं, तथा उसी में उनका लय होता है । उसमें से (समष्टि) प्राण तथा मन, इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पैदा हुए ।'' यह अव्याकृत सर्जन है (१.६, आदितत्त्व–२) तथा ब्रह्म को उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण बतलाता है ।

७.३.१.३ व्याकृत जगत (#४-९) : अब श्रुति नाम–रूपात्मक व्याकृत जगत (विराट) का वर्णन करती है : ''स्वर्ग उसका सिर है, सूर्य और चन्द्र उसके चक्षु हैं, दिशायें उसके कान हैं, वेद उसकी वाचा है, वायु उसके प्राण हैं, जगत उसका हृदय है । उसके दो पैरों से पृथ्वी का सर्जन हुआ ।

अग्नि (स्वर्ग) ब्रह्म में से, बादल चन्द्रमा में से, हरी घास पृथ्वी पर से, तथा वीर्य (हरियाली में से) उत्पन्न हुए । इस प्रकार यह पुरुष ही इन सब का मूल कारण है । उसने वेद तथा सभी लोकों आदि का सर्जन किया । वहाँ चन्द्र शुद्धिकरण करता है, तथा सूर्य चमचमाता है । उसी में से देवों तथा अंडज... आदि प्राणियों का प्रादुर्भाव हुआ । उसी में से ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, कर्म तथा अन्य गौण तत्त्व प्रकट हुए । उसी में से समुद्र और पर्वत तथा पर्वतों में से नदियाँ, अन्न आदि पैदा हुए ।''

इन सब (१.६ आदितत्त्व–३) के परिणाम स्वरूप स्थूल द्रव्य नाम–रूप लेकर प्रकट हुए । दैवी द्रव्यों के समूह को मानव स्वरूप दिया गया, जिसे विराट कहते हैं ।

(#१०) ''पुरुष ही ये सर्व है, जो (इन सब) कर्म तथा ज्ञान का कारण है । जो इस सर्वोच्च तथा अमरब्रह्म को हृदय की गुहा में निवास करता हुआ जानते हैं, उनकी अज्ञानता नष्ट होती है।''इससे वे सर्वज्ञ बनते हैं।

(३.३ प्रमेय–४) सिद्ध करता है कि ''ये सब पुरुष हैं ।'' (३.३ प्रमेय–५) बतलाता है कि ''ब्रह्म का जाननेवाला सर्वज्ञ बनता है ।'' इससे अज्ञान नष्ट होता है । (१.६ आदितत्त्व–४) से ज्ञात होता है कि कर्मों से प्रपञ्च में फँसे रहते हैं । ज्ञान से ही अमर हो सकते हैं ।

७.४ प्रयोजन :

ऊपर (७.३.१.३ #१०) बतलाता है कि सर्वज्ञ बनने के लिये ब्रह्म को ऐसे समझना चाहिये कि वह हमारे हृदय में निवास करता है । नीचे हृदयस्थ ब्रह्म के गुणगान किये गये हैं, उनके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से जो फल शौनक ऋषि को प्राप्त हुआ था वही फल प्राप्ति का हमारा भी सद्भाग्य हो सकता है ।

७.४.१ ब्रह्म की भव्यता पर मनन (मुण्ड २.२) (#१-२) : ''यह देदीप्यमान आत्मा जो हृदय में निवास करता है, वह सभी के पास है । वही स्थूल, सूक्ष्म, निमिष अथवा अनिमिष है । वही वरेण्य है, वह अक्षर ब्रह्म प्राण, मन तथा वाचा है, उसी का मर्म जानने योग्य है ।''

(#३–४) " मैं ब्रह्म का ॐ के रूप में मनन करता हूँ । एक तीक्ष्ण धारदार बाण (जीव) को धनुष (ॐ) पर चढा कर डोरी (एकाग्रता, विशुद्ध मन) खींचकर लक्ष्य (ब्रह्म) को बेधना चाहिये । ऐसा करने से जीव ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है । (#५) यह आत्मा जो एक व अद्वितीय है, उसे मैं पहचानता हूँ । इसी के साथ स्वर्ग, पृथ्वी, समस्त आकाश, मन, प्राण तथा इन्द्रियाँ गुँथे हुए हैं । यह सेतु मर्त्यलोक को अमृत (स्वर्ग) के साथ जोड़ता है । (#६) रथ के चक्र की नाभि के ऊपर जिस प्रकार अरा टिके हुए होते हैं, उसी प्रकार नाड़ियाँ हृदय (आत्मा) के साथ जुडी हुई हैं । जैसे चक्र रथ को गतिमान करता है, उसी प्रकार हृदय (आत्मा) अनेक रूप (देखनेवाला, सुननेवाला, विचार करनेवाला) धरकर शरीर को चलाता है । (बृहद् ३.७.२३); आत्मा तो मात्र साक्षी है, परन्तु उसका कर्ता रूप से आभास होता है) । इस आत्मा पर ॐ की मदद से ध्यान करो । इस प्रकार (जगत रूपी समुद्र के) दूसरे किनारे पहुँचकर कठिनाइयों से दूर रह सकोगे । (#७) आत्मा सर्वविद् और सर्वज्ञ (**omniscient**) है । वह हृदय की गुहा, जो ब्रह्म की तेजस्वी नगरी है, में निवास करता हैं । वह अन्न तथा प्राण का वहन करता है (जिससे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का पोषण होता है)। वह अन्न शरीर में रहकर बुद्धि को हृदय में स्थान देता है । तीक्ष्ण विवेक बुद्धिवाले महानुभाव आत्मा को सर्वगुण सम्पन्न मानते हैं ।"

(अब परिणाम का मनन करते हैं) (#८–११) "जब ब्रह्म का सगुण व निर्गुण दोनों प्रकार का ज्ञान हो जाता है, तब हृदय ग्रंथि छूट जाती है (अज्ञान का नाश हो जाता है) । संशय दूर हो जाते हैं, तथा सभी (संचित) कर्मों का नाश हो जाता है ।" (मनन जारी है ।) (#९) "जीवन मुक्त, ब्रह्म का साक्षात्कार इस प्रकार करता है : ब्रह्म अविभाज्य, दूषणरहित, विशुद्ध, प्रकाश का प्रकाश तथा हृदय के प्रज्ज्वलित आवरण में रहता है । (#१०) वहाँ सूर्य, चन्द्र अथवा विद्युत् प्रकाश नहीं देते । वस्तुतः ये सब उसके (ब्रह्म के) प्रकाश से ही प्रकाशवान होते हैं (#११) यह सब, जो ऊपर है, तथा नीचे है, जो दाँई ओर है, तथा बाँई ओर है, सब ब्रह्म है । वह अमर है । यह सारा जगत ब्रह्म है, वही सर्वोच्च है ।"

७.५ उच्चतम की अभिलाषा :

७.५.१ मुमुक्षु को बोध (मुण्ड ३.१) :

मुमुक्षु के लिये पूर्व तैयारी (#४-५) : सन्तजन, जिनके दोष संकीर्ण हो गये हैं, उन्हें यह विशुद्ध तथा उद्दीप्त ब्रह्म सतत, सत्य, चिन्तन तथा संयम के द्वारा उपलब्ध है । **सत्यमेव जयते न अनृतम्,** आर्षदृष्टा, जिन्होंने अपनी वासना भस्मीभूत कर दी है, वे सत्य के सहारे देवयान, जो सर्वोच्च आवास है, वहाँ पहुँचते हैं ।''

जीव तथा आत्मा : इसके प्रारम्भ में जीव तथा आत्मा को दो पक्षियों की सुन्दर उपमा दी गई है : (#१-३) ''दो पक्षी, जो एक ही नाम वाले तथा परम मित्र हैं, एक ही वृक्ष पर रहते हैं । एक (जीव) विविध फलों का आस्वादन करता है, तथा दूसरा निराहार रहकर मात्र अवलोकन करता रहता है । प्रथम पक्षी अपनी व्यथाओं से कलकलाट करता है । जब वह दूसरे पक्षी, जो आराधनीय स्वामी तथा ऐश्वर्ययुक्त है, का दर्शन करता है तब एकता अनुभव करता है और दुःख से मुक्त हो जाता है । जब दृष्टा (जीव) सुवर्णवर्णी, सर्जक स्वामी की ओर दृष्टिपात करता है, तो इस ज्ञानी (पक्षी) के पाप-पुण्यों का नाश हो जाता है । उसके अवगुणों का नाश हो जाता है, तथा वह अद्वैत को प्राप्त करता है ।'' (इसका तात्पर्य यह है, कि हमें अन्तरात्मा के दर्शन करने चाहिये ।)

जीवनमुक्त के लक्षण : (#४) यह (ब्रह्म) प्राण स्वरूप है, जो सभी जीवों में विविध रूप से प्रकाशित होता है । इस सर्वात्मा (व्यक्ति) को वादविवाद में पड़ने अथवा निरर्थक डींग हाँकने (अनर्गल बातें करने) की आवश्यकता नहीं है । वह अंतरंग रहता हुआ स्वात्मा में ही आनन्द लेता है । वह ब्रह्मविदों में प्रमुख स्थान पर है ।

ब्रह्म - जीवनमुक्त की दृष्टि से : (#७) ब्रह्म की पहचानः ब्रह्म विशाल, वैभवशाली (भव्य) तथा कल्पनातीत है । वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम है, तथा अनेक रूपों (सूर्य, चन्द्र आदि) में प्रकाशित होता है । वह दूर की वस्तुओं से

बहुत दूर है, तथा इस शरीर में होने के कारण अत्यन्त नजदीक है । दार्शनिक उसे हृदय में देखते हैं । (#८) वह वाचा, चक्षु अथवा इन्द्रियों द्वारा लभ्य नहीं है । वह तप अथवा कर्मों से भी प्राप्य नहीं है । जब बुद्धि के आशीर्वाद से मन का मैल धुल जाता है, तभी यह अखण्ड़ आत्मा निदिध्यासन से प्रत्यक्ष होता है । (#९) यह सूक्ष्म आत्मा हृदय में निवास करता है, जहाँ प्राण पाँच प्रकार से प्रवेश करता है । इस आत्मा का बुद्धि से साक्षात्कार करना है । यही बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों में व्याप्त है । **इस (आत्मा) को विशुद्ध मन से जाना जा सकता है ।** आत्मा इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होता है ।

गुरू की अनिवार्यता : (#१०) अन्त में श्रुति विश्वस्त करती है कि स्फटिक के समान विशुद्ध मन से जब किसी वस्तु अथवा लोक की स्पृहा की जाती है तब वह सब सिद्ध होती है । अतः अभ्युदय के अभिलाषी को हवि लेकर ब्रह्मज्ञानी गुरू के पास प्रयाण करना चाहिये ।

७.५.२ ब्रह्मविद् की महिमा (मुण्ड ३.२) : यहाँ मुमुक्षुओं का मार्गदर्शन किया जाता है, तथा ब्रह्मविदों को ऐश्वर्य की झाँकी करा कर, उस दिशा में जाने को ललचाया जाता है ।

ब्रह्मविद् के लक्षण : (#१) जो समस्त जगत् को ब्रह्म समझते हैं, जो ब्रह्म को तेजस्वी होकर चमकने वाला तथा सर्व का श्रेष्ठ आवास मानते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी हैं ।

विकारी की दुर्दशा : (#२)[१] जो विकारों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं तथा(भौतिक) आकांक्षाओं में भटकते रहते है, वे अपनी आकांक्षायें पूर्ण करने हेतु वारम्वार जन्म लेते हैं (भगी ८.६;छांदो ३.१४.१) ।

---

१. (मुण्ड ३.२.२)
कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।२।।

प्रचलित मान्यताओं का निषेध : (#३–४)[२] प्रवचन अथवा व्याख्यान सुनने से अथवा बुद्धि से आत्मा लभ्य नहीं है । ब्रह्म जिसका वरण करता है, उसी को प्राप्त होता है । आत्मा निर्बल, भ्रम में भटकते अथवा असत् सन्यासी को अलभ्य है, परन्तु जब विचारशील व्यक्ति इन साधनों (बल, निश्चय, पवित्रता) के द्वारा (ब्रह्म की) प्रार्थना करता है, तब उसका आत्मा इस आवास में प्रवेश करता है, जो ब्रह्म है । पण्डित वासना मुक्त होकर ब्रह्म की साधना करते हैं, तथा पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करते हैं ।

जीवन मुक्त का देहत्याग : (#५–६) जिन्हें सर्वत्र, सर्वव्यापी का साक्षात्कार हो चुका है, तथा जिन्हें अपने ज्ञान से संतोष है, वे स्वात्मा में ही मग्न रहते हैं । उन्हें राग–द्वेष स्पर्श नहीं करता । वे धीर–गंभीर हैं । (#७)[३] उनके १५ अवयव (प्रश्न ६.५) अपने कारणरूप देवों में मिल जाते हैं (लीन हो जाते हैं)। (#८) जैसे नदी समुद्र में मिलकर अपना नाम–रूप खो देती है, वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा अपना नाम–रूप तज कर इस उच्चतम, स्वयं प्रकाशित ब्रह्म में लीन हो जाता है । (#९)[४] **ब्रह्म को जाननेवाला, इस प्रकार स्वतः ब्रह्म रूप हो जाता है । उसके वंश का प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मज्ञानी होता है ।** वह दुःख व पाप से तर जाता है (पार हो जाता है) । उसकी हृदय ग्रन्थी छूट जाती है, तथा वह अमर हो जाता है ।

---

२. (मुण्ड ३.२.३–४)
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।३।।
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।।४।।

३. (मुण्ड ३.२.७)
गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।७।।

४. (मुण्ड ३.२.९)
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।।८।।

प्रकरण-८

वेदान्त के मूल - बृहदारण्यक उपनिषद् में

८.१ प्रावेशिक :

बृहत् अर्थात महान् । यह उपनिषद् तत्त्वदर्शन तात्पर्य तथा प्रस्तुति में तो महान् है ही, तदुपरान्त विस्तार में भी ऐसा ही है । यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद में वाजसनेय ब्राह्मण के **आरण्यक** विभाग के उपसंहार रूप में है, इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् कहलाता है ।

इस उपनिषद् की प्रस्तुति में आदेश व निषेध रूप से मननात्मक तथा यादगार सूत्र आह्लादक एवं प्रेरणात्मक हैं । छान्दोग्योपनिषद् की सत् विद्या (छांदो-६) वेदान्त के मूलों की स्थापना करके, वेदान्त को सुविकसित, विशाल तथा समृद्ध वृक्ष रूप में प्रकट करके, उसके फल रूप **''तत्त्वमसि''** महावाक्य द्वारा निराकार निरंजन की प्रतीति कराता है । बृहदारण्यक उपनिषद् इन मूलों को त्रिविध प्रकार के खादों से पुष्ट करता है : (१) वेदान्त के सिद्धान्तों की सुस्पष्ट प्रस्तुति; (२) विवादात्मक चर्चाओं में तर्क संगत वाद-विवाद द्वारा मुमुक्षुओं में अटूट श्रद्धा उत्पन्न करना तथा (३) मुमुक्षुओं को आत्मीयता पूर्वक हृदयस्पर्शी मार्गदर्शन कराना । राजा जनक तथा मैत्रेयी इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं (बृहद् २.४) । इस प्रकार **''तत्त्वमसि''** सुदृढ रूप से स्थापित वृक्ष ''अहं ब्रह्मास्मि'' महावाक्य द्वारा सुशोभीत होता है और मुक्ति रूपी मधुर फल का आस्वादन कराता है । यह केवल **''तत्त्वमसि''** का रूपान्तर ही है । इस उपनिषद् की विशिष्टता यह है कि वैदिक सिद्धान्त तथा उनके प्रयोजन (Application), जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते है, वे एक-दूसरे को आधार प्रदान करते हैं, तथा साथ लेकर चलते हैं । इस प्रकार सिद्धान्त तथा उनके प्रयोजन ओत-प्रोत हुए प्रतीत होते हैं ।

हमारा यहाँ आशय यह सिद्ध करने का है कि वेदान्त के मूल (१.६) यहाँ प्रस्तुत पराविद्या के सिद्धान्तों को समाविष्ट कर लेते है । तदुपरान्त यहाँ प्रस्तुत सिद्धान्तों द्वारा अनुलक्षित प्रयोजनों की समीक्षा करनी है ।

कोष्ठक में बताई गई संख्या (#XX) उस विभाग के श्लोक का क्रमांक है ।

८.२ आविर्भाव (बृहद्-१) :

इस उपनिषद् के प्रथम दो प्रकरणों को मधु–काण्ड कहते हैं । प्रथम प्रकरण अपरा–विद्या, जो कर्मकाण्ड–उपासना से परिपूर्ण है, वह निर्देश करती है, कि जो संसार में रमण करते हैं, उन्हें भौतिक फल की प्राप्ति होती है । इन विषयासक्तों पर कृपा करते हुए श्रुति उद्गीथ उपासना का निरूपण करती है, जो अश्वमेघ यज्ञ का फल प्रदान करती है । यह अपरा विद्या का सर्वोत्तम फल है । अपरा विद्या का रहस्यमय विश्लेषण करके, परिणाम रूप में श्रुति **''केवल आत्मा की उपासना करनी चाहिये''** – यह आदेश देती है, तथा ब्रह्म के ब्रह्मत्व का कारण बतलाकर हमें परा विद्या की ओर अग्रसर करती है। इस प्रकार पराविद्या का बीजारोपण यहाँ होता है । **''विशुद्ध मन''** पराविद्या के लिये पूर्वापेक्षित है । अपरा विद्या के फल स्वरूप मन विशुद्ध होता है, अतः उसकी भी अवगणना नहीं की जा सकती । यहाँ इस प्रकरण के विशिष्ट विभागों की प्रस्तुति की जायेगी ।

अश्वमेघ यज्ञ (बृहद् १.१-१.२) : यहाँ अश्वमेघ यज्ञ को संक्षेप में समझाया है, जिसके फल स्वरूप हिरण्यगर्भ पद प्राप्त होता है । यह हिरण्यगर्भ जगत व वेदों का आविष्कर्ता है । इस प्रकार यह यज्ञ सर्वोत्तम भौतिक फल देनेवाला है ।

उद्गीथ (बृहद् १.३) : जो भौतिक फलों में ही मग्न हैं तथा जिनकी अश्वमेघ यज्ञ अनुष्ठान करने की योग्यता नहीं है, उनके लिये उद्गीथ उपासना बताई गई हैं । इसका फल अश्वमेघ यज्ञ के समान ही होता है ।

उद्गीथ की विधि ज्योतिष्ठोम यज्ञ का ही एक अंग है । उद्गीथ में १२ ऋचायें (श्लोक) हैं । प्रथम तीन ऋचाओं को पवमान कहते हैं, जो नीचे प्रस्तुत की गई हैं । पवमान के मंत्रोच्चार यजमान को करना होता है । इसके परिणाम स्वरूप यजमान के प्राण–हिरण्यगर्भ के साथ एक हो जाते हैं । शेष का मंत्रोच्चार उद्गातृ करते है, इसका फल उद्गातृ को ही प्राप्त होता है। उसे खाद्य–पदार्थ (भोग्य वस्तु) ही प्राप्त होती है ।

दृष्टान्त रूपक (१.३.२-८) : हिरण्यगर्भ, जो प्रपञ्च का रचयिता तथा सर्वोच्च अधिकारी है, वह प्राण का समष्टि स्वरूप है । अतः उद्गीथ की उपासना में प्राण को महत्व मिला है । व्यष्टि स्वरूप प्राण को, व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर के अवयवों में सम्माननीय स्थान भोगने को प्राप्त होता है । इस बात को सिद्ध करने के लिये श्रुति एक रूपक प्रस्तुत करती है: पृथ्वी पर आधिपत्य जमाने हेतु देवों और दानवों में स्पर्धा हुई । देवों ने उद्गीथ के उद्गान द्वारा दानवों पर विजय प्राप्त करने की योजना बनाई । उन्होंने इन्द्रियों के देवताओं (जैसे कि वाचा के देव अग्नि, आदि) को क्रमशः उद्गातृ बनने का कार्य सौंपा । सभी देव असफल हुए क्योंकि दानवों ने इन्द्रियों को उनके विषयों द्वारा भ्रष्ट कर दिया (जैसे वाचा को अशिष्ट उच्चारण करने को विवश कर दिया, कानों को अश्लील कहानी सुनाई तथा नेत्रों के समक्ष बीभत्स चित्र प्रस्तुत कर उन्हें भ्रष्ट किया) । अन्ततः देवों ने प्राणों से विनती की । प्राण को दानव किसी युक्ति-प्रयुक्ति से अपवित्र न कर सके, क्योंकि उन्हें जगत के किसी भी दूषण की संगति नहीं है । इस प्रकार प्राणों के कारण यजमान देव विजयी हुए । प्राण की श्रेष्ठता (छांदो ५.१; बृहद् ६.१.१) में भी बताई गई है । उन्हें **श्रेष्ठ च ज्येष्ठ च** कहा जाता है । (#९-१६) इस विजय से सभी देवों के दूषण दूर हो गये । वाचा के देव अग्नि, नाक के देव वायु, चक्षु के देव सूर्य, कान के देव दिशा, मन के देव चन्द्रमा अपने-अपने क्षेत्र को पार कर गये । उन्होंने परिच्छिन्नता त्याग कर व्यापकता प्राप्त की ।

प्राण इन्द्रियों का पोषण करते हैं (#१७-१८) : उद्गातृ के रूप में प्राण ने अपने लिये अन्न प्राप्त करने हेतु उद्गीथ की नौ ऋचाओं का गायन किया। इन्द्रियों ने प्राण का वर्चस्व स्वीकार कर लिया था, तथा उनके पास कार्य शक्ति प्रज्ज्वलित रखने का कोई साधन नहीं था, इसलिये प्राण ने अपना अन्न इन्द्रियों को पहुँचाया । (व्यवहार में भी इन्द्रियों का अन्नरस के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है)।

अवास्य अंगीरस (#१९) : प्राण को, अवास्य अंगीरस का पद प्राप्त हुआ है क्योंकि वही शरीर के सभी अंगों की जीवनडोरी है । इसके शरीर त्यागने पर सभी अंग निष्क्रिय हो जाते हैं । (#२१) श्रुति अब उपसंहार करते हुए कहती है : ''प्रत्येक इन्द्रिय अविरत अपने विषयों में मग्न रहती है । मृत्यु

ने सभी को 'थकावट' के रूप में अंकुश में रखा, पर वह प्राण को अंकुश में नहीं रख सकी । इसलिये इन्द्रियों ने प्राण का प्रभुत्व स्वीकार किया, और उन्होंने प्राण का रूप धारण किया । जिन्हें इसका ज्ञान है, उनकी संतति सदा विजयी होती है । (#२३–२४) इस महत्ता के कारण प्राण को ही उद्‌गीथ कहा जाता है । ब्रह्मदत्त, चिकितान का प्रपोत्र, अपने सिर की सोगन्ध लेकर कहता है कि वास्तव में प्राण अवास्य अंगीरस है ।

(#२८) पवमान :अब पवमान की तीन ऋचायें,जिनका मंत्रोच्चार यजमान को बारम्बार करना होता है जिससे यजमान हिरण्यगर्भ पद प्राप्त कर सके ।

असतो मा सद्‌गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्मामृतं गमय ।।

श्रुति ही कहती है कि तीनों पवमान एक ही वस्तु की आराधना करते हैं । प्रथम दो पवमान के प्रथम दो शब्द असत् तथा तमस् का अर्थ है मृत्यु । तथा यही तृतीय पवमान का प्रथम शब्द है । दूसरा शब्द सत् तथा ज्योति का अर्थ अमृत (अमरत्व) ही तृतीय पवमान का दूसरा शब्द है । यह सापेक्ष अमरत्व है, जो हिरण्यगर्भ के जीवन पर्यन्त रहता है । यह हमारे (आदितत्त्व–४ क) के समर्थन में ही हैं, जो कहता है कि जिसकी आराधना की जाती है, उसकी मर्यादा के अनुसार ही फल प्राप्त होता है ।

वैकल्पिक दृष्टि : प्रथम पवमान में सत् की आराधना है । द्वितीय पवमान में **ज्योति** अर्थात् चित् (ज्ञान) की आराधना है तथा तृतीय पवमान में **अमृत** – जो आनन्ददाता है – की आराधना है । इस प्रकार **सत्-चित्-आनन्द (सच्चिदानन्द)** की आराधना है ।

अविस्तीर्ण मंजिल : हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के लिये अश्वमेघ यज्ञ करना – यह तो चक्रवर्ती महाराजाओं के लिये भी भगीरथ कार्य माना जाता है । अतः श्रुति उद्‌गीथ की उपासना बतलाती है । अब श्रुति विश्वस्त करती है कि केवल पवमान के ध्यान मात्र से ही यह ध्येय सिद्ध हो सकता है । अब उद्‌गातृ की भी आवश्यकता नहीं है ।

८.२.१ परम ध्येय प्राप्ति (बृहद् १.४) : प्राण विद्या, जो प्रपञ्च का सर्वश्रेष्ठ फल देती है, वह अज्ञानियों पर कृपा करने मात्र को ही थी । ये नासमझ लोग कहाँ भूल करते हैं, इसका विश्लेषण करके श्रुति हमारे लिये परम श्रेय का मार्ग प्रशस्त करती है ।

(#१-४) श्रुति हिरण्यगर्भ के उद्भव तथा इससे पूर्व की सर्जन क्रिया का निदान किये बिना हिरण्यगर्भ की पशोपेश से प्रारम्भ करती है, जो प्रस्तुत विषय के अनुरूप है : ''प्रारम्भ में यह सब केवल विराज (हिरण्यगर्भ) मानव स्वरूप में था । वह अकेला (सोहम्) था, अतः वह भयभीत एवं दुःखी था । संगति प्राप्त करने के हेतु यह सब - जिनका अस्तित्व है - को युग्मों में प्रकट किये, तथा इन सभी को अपने में से ही पैदा किये । यह भयभीत व दुःखी विराज अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ही पैदा हुआ होगा।''

(#६) ''सभी देव हिरण्यगर्भ ही हैं, तथा हिरण्यगर्भ की यह अति उत्तम सर्जनशक्ति है, क्योंकि उसने अपने से भी उच्च देव प्रकट किये ।'' इस प्रकार हिरण्यगर्भ का स्वरूप प्रपञ्च का सर्वोत्तम शिखर है । **(#७) इस ऋचा को दो भागों में समझाया जायेगा ।** (१) अज्ञानी की कमी, तथा (२) कमी का निवारण ।

अज्ञानी की कमी (बृहद् १.४.७) : ''प्रारम्भ में यह सृष्टि अव्याकृत थी, यह नाम रूप से व्याकृत हुई । आत्मा ने प्रत्येक शरीर में नख-शिख तक प्रवेश किया ।'' यह प्रथम तो ब्रह्म को कारण स्वरूप बतलाती है (१.६ आदितत्त्व-१ ब); तत्पश्चात् इसका नाम-रूप में व्यक्त होना बतलाते हैं (आदितत्त्व-३) । जैसे लकडी में अग्नि सर्वत्र है, वैसे ही ब्रह्म यह शरीर में सर्वत्र फैला हुआ है; तथा यह लकडी में अग्नि की तरह अज्ञात रहता है । लोग इसे जानते नहीं हैं। लोग इसे आँख, कान, मन, वाचा आदि कार्य-स्वरूप से जानते हैं । इस प्रकार अपूर्ण आत्मा के दर्शन होते हैं । ब्रह्म को यदि शरीर के अंग प्रत्यंगों के समुदाय की कार्यशीलता स्वरूप में जाना जाए तो भी जीवनकार्य के सम्बन्ध स्वरूप में ही - अर्थात् प्राण स्वरूप में प्रतीत होता है । यह अपूर्ण है । **पूर्ण ब्रह्म तो अलौकिक (Transcendent) है ।**

कमी का निवारण : (#७ आगे ले जाता है) **''आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए क्योंकि ये सब उसी में एकत्रित होते हैं।** ये सब आत्मा के द्वारा जाने जा सकते हैं, जैसे पदचिन्हों से प्राणी को पहचाना (प्राप्त किया जा) सकता है। ऐसे ही उस आत्मा को जानना चाहिये, जो नाम–रूप बन कर सर्व में प्रवेश करता है। इससे यश मिलता है तथा स्नेहियों के साथ सहचर्य प्राप्त होता है।'' यह अक्षर ब्रह्म का ज्ञान कराता है। यह परा विद्या का प्रारंभ है।

अन्तरात्मा की प्रतीति (आत्मा की ही उपासना करना) ही पर्याप्त है, यह समझाने को श्रुति कहती है : (#८) ''वह पुत्र, धन तथा अन्य सर्व से अधिक प्रिय है।'' अब मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ ध्येय प्राप्त करने हेतु वेदान्त का सार प्रस्तुत किया जाता है : (#९) ''व्यक्ति विचार करता है – ब्रह्म को जानकर मैं भी यह सर्व बन जाऊँगा। **ब्रह्म क्या जानते थे, जिससे वे सब कुछ हो गये?**'' इस प्रश्न का उत्तर : (#१०) ''सर्वप्रथम सिर्फ ब्रह्म ही था। वह केवल इतना ही जानते थे कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः वह सब कुछ बन गये'' (६.२.३ ऐत १.३.१३)। यह तीक्ष्ण प्रश्न – (आदितत्त्व–४ अ) ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है – का उद्बोधन करता है। इसी तथ्य को श्रुति आगे बढ़ाती है, और कहती है, ''जो अन्य देव की आराधना करके मानते हैं कि मैं एक हूँ और वह अन्य है, वे अज्ञानी हैं।'' यह अद्वैतवाद **''एकमेवाद्वितीयं''** (१.६ आदितत्त्व–१ अ) को ही अलग शब्द में प्रस्तुत करता है। यह जानते हुए भी लोग अज्ञान में ही मग्न रहते हैं।

८.२.१.१ संसार में डूबे (रचेपचे) रहने का मूल कारण - वासना : दुर्योधन की यही मुसीबत थी – **जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्ति। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति॥** धर्म अथवा अधर्म की व्याख्या जानने से क्या होता है? यदि उसमें प्रवृत्ति ही न होः वासना ही महा दुश्मन है। श्रुति इसका विश्लेषण करती है : (#१७) ''कर्म काण्ड के पाँच अंश है : पति, पत्नि, पुत्र, धन तथा क्रियाकाण्ड। ये यदि न हों तो पुरुष अपने को अपूर्ण मानता है। जिन पाँच अंशों से शरीर की पूर्णता आती है, वे हैं : वाचा, मन, प्राण, चक्षु और शरीर। कर्मकाण्ड, प्राणी तथा अन्य जो कुछ भी है, वह सब पाँच अंशों से सुशोभित है।'' श्रुति उद्बोधन करती है : (#१५) ''(इस प्रकार के) धार्मिक कार्यों का

फल क्षणभंगुर है (आदितत्त्व–४ क) । इसलिये आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये, आत्म उपासना रूप कर्म के फल का कोई अन्त नहीं है ।'' (#१६) ''देवों की आराधना करनेवाला व्यक्ति उनके आनन्द–प्रमोद का साधन बन कर रह जाता है । जैसे अन्य प्राणी मनुष्य के लिये होते हैं । देवों की सेवा में अवरोध न आये, इसलिये वे भक्तों की रक्षा करते हैं ।''

८.२.२ अज्ञानी, नित्य तथा अविरत गुलाम (बृहद् १.५) : देवों की सेवा में रुकावट न हो इसलिये प्रजापति ने सात प्रकार के अन्न पैदा करके इस प्रकार वितरण किये कि जिससे प्रपञ्च में सब एक दूसरे के भोग का साधन बनें, और भोक्ता भी बनें । इस प्रकार अन्योन्य के पूरक होने से अन्न का कभी क्षय नहीं होता, तथा यह चक्र अनंत तक गतिमान रहता है । अब इस संसार में ही व्यस्त रहने के इच्छुक अज्ञानियों को इस संसार चक्र में जो श्रेयस्कर है, उसकी बाबत निर्देश दिया जाता है । (#१६) इन संसारियों के लिये तीन लोक निर्धारित हैं : ''पुत्र से यह लोक मिलाता है, क्रिया काण्ड से पितृलोक मिलता है तथा ध्यान से देवलोक मिलता है । इन तीन में देवलोक श्रेष्ठ होने के कारण ध्यान करना हितकर है ।''

तथापि जन्म–मरण का चक्र चलता ही रहता है, क्योंकि यहाँ मोक्ष नहीं है ।

८.२.३ प्रपंच (बृहद् १.६) : जैसे बीज में से वृक्ष पैदा होता है उसी प्रकार अव्याकृत जगत में से इस व्याकृत जगत का सर्जन होता है, जो साधन तथा साध्य से समृद्ध है । **इसमें नाम-रूप तथा कर्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । यह सब अनात्म है ।** यह साक्षात् तथा अपरोक्ष आत्मा नहीं है । इस तथ्य का निरूपण यहाँ किया गया है । (#१–३) नाम वाचा में उक्थरूप (कारणरूप) से समाया हुआ है । प्रत्येक रूप चक्षु में उक्थ रूप में है तथा कर्म प्राण में उक्थ रूप से है । ये (नाम, रूप, कर्म) तीन होते हुए भी आत्मा एक ही है । आत्मा के एक होते हुए भी ये तीन हैं । यह अमृत सत्य से आच्छादित है । (प्राण=अमृत; नाम–रूप=सत्य) ।

८.३ भावात्मक मार्गदर्शन (बृहद्-२) :

लौकिक फल की चाह रखने में कितनी आपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं, यह स्पष्ट करने के पश्चात् घोषणा की जाती है ''आत्मा की ही उपासना करो, क्योंकि ये सब इसी में एक होते हैं'' (८.२.१, #७); यह परा–विद्या का विहंगावलोकन हुआ । अब आत्म दर्शन करानेवाली परा–विद्या अत्यन्त सूक्ष्मता से समझाई जा रही है ।

रस्सी में पत्थर बाँधकर यदि गोल–गोल घुमाते ही रहें, तो क्या उससे लक्ष्य को बेधा जा सकता है? ऊपर (८.२.२) में बताया गया है कि प्रजापति अज्ञानियों को पत्थर बनाकर जन्म–मरण के अनन्त चक्कर में घुमाते ही रहते हैं । लक्ष्य बेध करने के लिये अपकेन्द्री बल (**centrifugal force**) द्वारा स्पर्श रेखा की दिशा लेनी चाहिये । (बृहद्–२) के प्रथम भाग (८.३.१) में महाराजा अजातशत्रु बालाकी को, तथा द्वितीय भाग में (८.३.२) महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी भार्या मैत्रेयी को इस अपकेन्द्री बल द्वारा स्पर्श रेखा की दिशा में किस प्रकार अग्रसर करते है, इसका अब हम अवलोकन करेंगे ।

८.३.१ अजातशत्रु एवं बालाकी (बृहद् २.१) : हमने (४.४) में देखा कि प्रजापति ने इन्द्र को चार अवस्था की सीढी (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय) पर चढा कर आत्मज्ञान कराया । यहाँ महाराजा एक ब्राह्मण, गार्ग्य बालाकी को सुषुप्त अवस्था से प्रारम्भ कराता है, क्योंकि यह ब्राह्मण जाग्रत एवं स्वप्नावस्था के ब्रह्म के स्वरूप को जानता था । यहाँ सुषुप्त अवस्था का गहन विश्लेषण किया गया है ।

गार्ग्य (बालाकी), एक ब्राह्मण, स्वयं को ब्रह्मज्ञानी समझते हैं । वह महाराजा अजातशत्रु को ब्रह्मज्ञान देने की पृच्छा करते हैं । महाराजा ने उन्हें अपनी सहमति दी । गार्ग्य का प्रथम पाठ : ''सूर्य में जो पुरुष है, उसकी आराधना करो ।'' महाराजा कहते हैं, ''यह तो मुझे ज्ञात है, इसका फल क्षणजीवी है ।'' गार्ग्य अनुक्रम से चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आरसी शब्द, दिशायें, छाया तथा जीव की आराधना करने को कहते हैं । महाराजा को यह सब ज्ञात है, तथा वे जानते हैं कि प्रत्येक का फल क्षणभंगुर है । अतः वे कहते है : **''इतना जानने मात्र से ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता ।''**

गार्ग्य को अपनी भ्रान्ति का पता हुआ, तथा उन्होंने महाराजा से विनती की कि वे उन्हें ब्रह्मज्ञान प्रदान करें । महाराजा सहमत हुए और कहा (#१५) **" मैं आपको बोध कराऊँगा ।"** महाराजा उसे एक सोते हुए व्यक्ति के पास ले जाते हैं । उसे उठाने के लिये वे उसे महानुभाव, श्वेत वस्त्रधारी, ज्योतिर्मय, सोम आदि विशेषणों संबोधते हैं । इस प्रकार आवाज से उसके न जागने पर वे उसे हाथ से छेड़ते हैं, जब तक कि वह उठ नहीं जाता । यहाँ यह कहानी पूरी होती है । अब, वह आवाज से क्यों नहीं जागा, जिससे अन्य विकल्प की आवश्यकता पडी, इसका विश्लेषण करते हैं ।

महाराजा ने सोते हुए व्यक्ति को अनेक प्रकार से बुलाया, तो भी उत्तर न मिला, क्योंकि उसका मन भी निवृत्त हो गया था । यदि वह स्वप्नावस्था में होता तो मन के क्रियाशील होने के कारण उस सोते हुए व्यक्ति ने उत्तर दिया होता । इससे सिद्ध होता है कि वह व्यक्ति सुषुप्त अवस्था में था ।

अब महाराजा पूछते हैं (#१६) : "यह चेतनायुक्त पुरुष (जो जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में मन के साथ तादात्म्य रहता है) कहाँ था, तथा वह कहाँ से लौटा था?" गार्ग्य को इसके विषय में जानकारी नहीं थी, अतः महाराजा स्वयं ही उत्तर देते हैं ।

(बृहद् २.१.१७)[१] सुषुप्त अवस्था : "इस अवस्था में चेतनायुक्त पुरुष (आत्मा) उपाधि के कारण भासित होनेवाला व्याकृत स्वरूप त्याग देता है (जिससे मन–इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं) तथा आत्मा हृदयाकाश (ब्रह्म) में शयन करता है । जब यह पुरुष मन और इन्द्रियों को निष्क्रिय कर देता है, तब इसे स्वपिति कहा जाता है ।" इस अवस्था में आत्मा अपनी उपाधि से मुक्त होता है, जिससे वह संसार की सुख–दुःख रूपी विड़म्बनाओं से दूर रहकर अपनी पूर्ण शुद्धता में मग्न रहता है । आत्मा कहीं जाता नहीं है । (यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है) **गार्ग्य को शिक्षा मिलती है कि आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से भिन्न है ।** मोक्ष के लिये इसकी प्रतीति होनी चाहिये ।

---

१. (बृहद् २.१.१७)

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नामतद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतँ श्रोत्रं गृहीतंमनः ।।१७।।

(#१८) स्वप्नावस्था : ''इस अवस्था में वह भिखारी अथवा राजा या सज्जन ब्राह्मण बनने का अनुभव लेता है ।'' इससे ज्ञात होता है कि दसों इन्द्रियाँ निवृत्त होती हैं परन्तु मन क्रियाशील रहकर भूतकाल के दृश्यों अथवा मनःकल्पित वासनाओं का पुनरावर्तन करता है ।

अब द्वितीय प्रश्न के उत्तर में गहन विवेचन करने की आवश्यकता है:

(बृहद् २.१.१९)[२] ''आनन्द की अवधि प्राप्त करने के पश्चात् हिता नाडियों द्वारा आत्मा का आगमन होता है ।'' हमने देखा आत्मा कहीं गया नहीं था, अतः वापस आने का प्रश्न कहाँ उठता है? श्रुति ही इस समस्या का समाधान करती है । विस्तार पूर्वक समझने के लिये हमें (प्रश्न ३.६; बृहद् ४.३.२०; छांदो ८.६.६, ४.३.६) का संकलन करना होगा । हृदय में से १०१ मुख्य नाडियाँ निकलती हैं (इनमें से एक ऊपर की दिशा में विद्रुति की ओर जाती है । परलोक–गमन के समय जीव यदि इस नाडी से प्रयाण करता है तो उसे ब्रह्म–लोक प्राप्त होता है) । प्रत्येक मुख्य नाडी की १०० शाखायें हैं तथा प्रत्येक शाखा में से ७२००० उप–शाखायें निकल कर समस्त शरीर में, वटवृक्ष के पत्ते की नसों की तरह, फैली रहती हैं । इस प्रकार कुल ७२७,२१०,२०१ नाडियाँ हैं, जिन्हें हिता नाडियाँ कहते हैं । हृदय, आत्मा तथा मन व बुद्धि का अधिष्ठान है । इन दोनों का योग हिता नाडियों के द्वारा होता है, तथा आत्मा की ज्ञान–शक्ति (सच्चिदानन्द के चित् अंश) द्वारा ही मन व बुद्धि क्रियाशील होकर सभी इन्द्रियों को सचेत करती है । इससे मन व बुद्धि अपनी क्रियाशीलता खो देती है । इसके परिणाम स्वरूप इन्द्रियाँ भी शान्त हो जाती है । महाराजा के छेडने से सोता हुआ व्यक्ति जाग जाता है, क्योंकि हिता नाडियों का आत्मा व मन तथा बुद्धि के साथ संयोग स्थापित हो जाता है । इससे इन्द्रियाँ भी कार्यरत हो जाती हैं । महाराजा पूछते है, ''आत्मा कहाँ था, व कहाँ से वापस आया?'' किन्तु वास्तव में तो हिता नाडियों का आत्मा व मन–बुद्धि के साथ संयोग रहता है अथवा नहीं, यही योग्य प्रश्न है । श्रुति के उर्मिप्रधान व काव्यमय होने के कारण हमें शब्दार्थ पर न जाते हुए भावार्थ

२. (बृहद् २.१.१९)
यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन चेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिध्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ।।१९।।

को ही समझने की आवश्यकता है । इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा की शक्ति से ही शरीर कार्यरत होता है । तो भी संसार के पाप–पुण्य से वह परे है । जैसे सूर्य से ही पृथ्वी पर जड–चेतन का अस्तित्व है, तो भी पृथ्वी पर के कार्यों से वह परे (अलिप्त) है तथा यहाँ के सुकृत–दुष्कृत्यों से वह अलिप्त रहता है । इसके समर्थन में (बृहद् ३.८.११) ''वह श्रवण का विषय नहीं है, परन्तु श्रोता है – उसके अतिरिक्त अन्य कोई साक्षी नहीं है ।'' (बृहद् ४.२.३०) ''ज्ञाता की बुद्धि शक्ति का कभी ह्रास नहीं होता ।'' इस प्रकार आत्मा का सामर्थ्य अनन्त व अखण्ड है, तथा **आत्मा शरीर के कार्य, कारक व फलदायिकता से परे है ।**

सत्य का सत्य : सुषुप्ति का आलेखन (टीप २.३ छांदो ६.८.१) ''उसने सत् के साथ एकता बनाये रखी है ।'' (प्रश्न ४.७) ''वह पूर्ण पुरुषोत्तम में आराम करता है ।'' (बृहद् ४.३.२१) ''पुरुषोत्तम ने उसका आलिंगन किया है ।''

सुषुप्त अवस्था में जीव को जरा भी आभास नहीं होता कि वह आत्मा के साथ एकत्व भोग रहा है – यह अज्ञान अवस्था है । यह कोई ब्रह्मज्ञान नहीं है, अतः महाराजा का कथन (८.३.१, #१५) ''मैं तुमको बोध कराऊँगा'' अपूर्ण है । यहाँ श्रुति उपदेश देती है, जिससे ब्रह्मज्ञान हो सके : (बृहद् २.१.२०)[३] ''मकडी जैसे जाला रचती है, जैसे अग्नि में से छोटी–छोटी चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सभी इन्द्रियाँ (प्राण), सभी लोग, सभी देव तथा सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं ।'' इसका व्यक्तिगत नाम उपनिषद् (पास रहने वाला) ''सत्य का सत्य'' है । प्राण सत्य है । इसका यह (आत्मा) सत्य है । यहाँ ब्रह्म को उसके तटस्थ लक्षण से पहचाना जाता है ।

अब (८.३.१.१) में प्राण (सत्य) का परिचय कराया गया है । (८.३.१.२) द्वारा स्पष्ट होता है कि प्राण को ''सत्य'' तथा आत्मा को ''सत्य का सत्य'' क्यों कहा गया है ।

---

३. (बृहद् २.१.२०)

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वेप्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।।२०।।

८.३.१.१ शिशु ब्राह्मण (बृहद् २.२) : व्यक्ति का परिचय उसके व्यवसाय, अन्य संगत में रहनेवाले, सम्बन्धी तथा मित्रों द्वारा कराया जा सकता है । श्रुति हमें प्राण का परिचय देती है – उसकी विशिष्टता, प्रकृति तथा सहचारी तत्त्वों से ।

(#१) श्रुति प्राण को बछड़े (शिशु) के साथ तुलना करके उसकी प्रकृति पर प्रकाश डालती है (पाँच बातों में समानता बतलाती है) :

(१) बच्चे को माता के दूध के अतिरिक्त अन्य आहार की आवश्यकता नहीं है; प्राण केवल अन्तरात्मा के प्रकाश से ही क्रियाशील होकर सम्पूर्ण शरीर–यन्त्र को सचेत करता है । इन्द्रियों को उनका (विषय रूपी) आहार न मिलने पर उसका अभाव उनकी नाराजगी का कारण हो सकता है । प्राण को इस प्रकार के किसी आहार की आवश्यकता नहीं है ।

(२) प्राण का निवासस्थान शरीर है, तथा प्राण इन्द्रियों का निवासस्थान (आधान) है । जब इन्द्रियाँ वहाँ आराम करती हैं (सुषुप्ति काल में), तब आत्मा की प्रतीति नहीं होती । महाराजा अजातशत्रु यही कहते हैं, ''जब इन्द्रियाँ प्राण में संकुचित होकर रहती हैं, तब आत्मा का निर्देश नहीं होता।'' जैसे विद्युत का निर्देश उसके साधनों, जैसे बल्ब आदि से होता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने साधन इन्द्रियों से निर्दिष्ट होती है ।

(३) सिर उसका अनोखा धाम (प्रत्याधान) है, क्योंकि प्राण सिर में रहते अन्य अंगों के साथ संलग्न हैं ।

(४) बछडे को स्तम्भ के साथ बाँधा होने के कारण कोई उसे भगा नहीं सकता, इस प्रकार स्तम्भ उसकी शक्ति (स्थूण) है । शक्ति प्राण के लिये स्तम्भ के समान है । उसकी शक्ति अन्न के सूक्ष्म विभाग में से आती है (१.६ निरीक्षण–३) ।

(५) बछडे और स्तम्भ को डोरी से जोडा जाता है । अन्न–पानी प्राणों के लिये डोरी के समान हैं । क्योंकि वे प्राणों को शक्ति के साथ बाँधते हैं ।

प्राण की ईर्ष्या करनेवाले सम्बन्धीजनों की संख्या ७ है – (चक्षु (२), कान (२), नसकोरे (२) तथा जीभ (मुंह) । वे संबंधी हैं क्योंकि वे प्राण की

साथ शिर में रहते है । वे इर्षा करनेवाले हैं, क्योंकि वे अन्तर्मुखी होने की जगह बहिर्मुखी रहकर अन्तरात्मा से अलग रहते हैं (देखो टीप ३.१ कठ २.१.१) ।

इस प्रकार प्राण को जानने का फल : ''इन सातों ईर्ष्यालु संबन्धियों को परास्त करके प्राण अन्तुर्मखी हो जाते हैं ।'' महाराजा इस प्राण को संबोधित करते हैं, ''महान् श्वेत वस्त्रधारी, ज्योतिर्मय, तथा सोम आदि से'' (८.३.१ #१५)।

(#२) चक्षुओं के सात अंग तथा उनके अधिष्ठित देव : रुद्र–गुलाबी रेखायें; पर्जन्य–पानी; सूर्य–आँख का तारा; अग्नि–काला भाग; इन्द्र–सफेद भाग–; पृथ्वी–निचली पलक; स्वर्ग–ऊपर की पलक । ये देव प्राण की उपासना करते हैं तथा उसकी रक्षा भी करते हैं। इस प्रकार जाननेवाले को कभी अन्न की कमी नहीं रहती ।

इन्द्रियों के देव : (#३–४) अब सिर, जो प्राण का अनोखा धाम है उसकी उलटे रखे हुए तशले के साथ तुलना करते हैं, जो नीचे से खुला है तथा ऊपर से बन्द है । इसी में ऊपर बताई गई सात ईष्यालु इन्द्रियों का निवास है, जो मन के लिये सूचनावाहक का काम करती है । आठवी इन्द्रिय वाचा है, जो मन के लिये संदेशवाहक का कार्य करती है । इसी से वेदोच्चारण होता है । प्रत्येक के ऋषि इस प्रकार हैं : (दाहिने एवं बाँये क्रम से) दो कानों के लिये गौतम तथा भरद्वाज; दो चक्षुओं के लिये विश्वामित्र तथा जमदग्नि; दो नासिकाओं के लिये वशिष्ठ तथा कश्यप; जीभ के लिये अत्रि, जिसके द्वारा अन्न ग्रहण किया जाता है । यह जाननेवाला अन्न का भक्षक बनता है, परन्तु वह किसी के लिये अन्न नही बनता (अर्थात् उसका कोई भक्षण नहीं करता)। यह परिणाम (आदितत्त्व–४ क) के अनुसार है ।

८.३.१.२ मूर्तामूर्त ब्राह्मण (बृहद् २.३) : (#१–५) सर्जन का क्रमबद्ध प्रारम्भ (तैत २.१.१) में वर्णन किया गया है । यह–आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा स्थल–इस क्रम में है । ये अव्यक्त पंच महाभूत पंचीकरण (त्रिवृत्तकरण) के पश्चात् (२.७.१, २.७.२) नाम–रूप में परिवर्तित हुए । इस प्रकार अज्ञान के आवरण से अव्यक्त तथा निराकार ब्रह्म व्यक्त तथा बुद्धिगम्य

होकर मूर्त व अमूर्त स्वरूप में आभासित हुए । आकाश तथा वायु अमूर्त तत्त्व हैं, जिनके चार गुण – सूक्ष्म (अमूर्त), अमर, अनन्त तथा अव्यक्त हैं । शेष तीन तत्त्व अग्नि, जल व स्थल मूर्त हैं, तथा इनके चार गुण अमूर्त तत्त्वों से विरुद्ध प्रकृतिवाले हैं : स्थूल (मूर्त), मर्त्य, सीमित तथा व्यक्त (**defined**)। प्रत्येक समूह में एक गुण का उल्लेख करने से गहनरूप से उसके अन्य गुणों का भी उल्लेख हो जाता है । चक्षु आध्यात्मिक स्थूलता का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा दाहिने चक्षु में निवास करता पुरुष आध्यात्मिक सूक्ष्मता का प्रतिनिधित्व करता है । आधिदैविक प्रतिनिधित्व में सूर्य स्थूलता तथा इसमें निवास करता पुरुष सूक्ष्मता दर्शाता है ।

(#६) सर्वप्रथम ऊपर दर्शाये हुए आध्यात्मिक व आधिदैविक पुरुष की विशेषताओं का वर्णन करते हैं : ''उसके मन की प्रकृति उसके आमोद–प्रमोद के विषय के अनुसार विकारों को धारण कर लेती है, जैसे हल्दी से रंगा हुआ कपडा, इन्द्रगोप, अग्नि की ज्वाला आदि ।'' श्रुति के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि मन अपने विषय में जितनी गहराई से डूबा हुआ होता है, ठीक उसी प्रमाण में उसके रंग–रूप में परिवर्तन होता है । मन की प्रकृति के ऐसे विकार अगणित हैं (भगी–१५.९) । कई बार ऐसा भी तो होता है न, कि बिजली की एक चमक से यह सब देदीप्यमान हो जाता है । मन के किसी एक विकार से, अचानक बिजली चमकने की तरह, हिरण्यगर्भ की दीप्ति प्राप्त होती है, यह भी संभव है ।

श्रुति हिरण्यगर्भ का मूल्यांकन कितने सुंदर तरीके से करती है । यह भी अल्प ही है । यहाँ प्राण–सत्य का वर्णन परिपूर्ण होता है ।

अब श्रद्धालुओं के लिये संप्रज्ञान : हमें ''सत्य का सत्य'' तथा **''नेति, नेति''** इन दो कथनों को ठीक प्रकार से ग्रहण करना होगा । ऊपर बताये अनुसार मन, जो आत्मा की उपाधि है, वह विचारों की तरंगें अनुभव करता है । आदेश (नेति, नेति) अत्यन्त दृढता से सूचित करता है कि इन तरंगों से पैदा होनेवाली विह्वलता का कारण वासनायें हैं । इन वासनाओं के त्याग से उपाधियाँ विलय हो जाती हैं, तथा ''सत्य का सत्य'' – ब्रह्म खिल उठता है। इससे प्रत्येक प्रकार के भेदभाव का भ्रम पैदा करनेवाले तत्त्वों का विनाश होगा तथा स्वगत, सजातीय अथवा विजातीय भेदभावरहित तत्त्व का दर्शन

होगा, जिसका नाम–रूप अथवा कार्य नहीं है । यही तत्त्व समरूप (homogeneous) है, यही शुद्ध ज्ञान है । इसके आन्तरिक अथवा बाह्य भाग नहीं हैं । यह वही ब्रह्म है जिसका ज्ञान कराने की अजातशत्रु ने प्रतिज्ञा की थी (८.३.१; #१५) ''मैं तुमको बोध कराऊँगा ।'' ''नेति, नेति'' के अतिरिक्त निर्विकार ब्रह्म की पहचान करानेवाला अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

उपसंहार में, प्राण, जिसे ''सत्य'' कहा गया है, वह सभी प्रापञ्चिक अवयवों को प्रस्तुत करता है । इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह ''सत्य का सत्य'' अर्थात् निर्विकार ब्रह्म है । जो मन के द्वारा कल्पनीय हो अथवा इन्द्रियों के द्वारा जिसे जाना जा सकता हो वह सब ब्रह्म का अत्यन्त लघु (अविस्तीर्ण) स्वरूप है; वह पूर्ण ब्रह्म नहीं है । इसलिये उसे 'नेति–नेति' द्वारा व्यक्त किया जाता है ।

८.३.२ मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहद् २.४) : श्रुति (८.२) में इहलोक–परलोक, आवागमन तथा पुनर्जन्म का भयानक चित्र प्रस्तुत करती है, तथा मार्गदर्शन करती है : ''मात्र आत्मा का साक्षात्कार करो ।'' किस प्रकार? प्रथम तो आत्मा के स्वभाव का निरूपण किया जाता है । उपसंहार में बतलाया है कि संसार की सभी स्थूल व सूक्ष्म वस्तुएँ सत्य हैं तथा ब्रह्म सत्य का सत्य है जिसकी व्याख्या ''नेति, नेति'' द्वारा की गई है । इसमें बताया गया है कि जिसका साक्षात्कार करना है, वह स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेद से रहित है । अब महर्षि याज्ञवल्क्य, अपनी पत्नी, मैत्रेयी को यही ब्रह्म का साक्षात्कार करने हेतु श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने को कहते हैं । यह हम आगे वर्णन करते हैं ।

(#१–४) महर्षि याज्ञवल्क्य ने संन्यास लेने का निश्चय किया । अपनी दो पत्नियों में से एक, मैत्रेयी को, उसके हिस्से की संपत्ति माँगने को कहा । सदाचारी व मुमुक्षु स्त्री ने पूछा, ''संपत्ति से अमरत्व प्राप्त होगा?'' महर्षि ने 'ना' में उत्तर दिया, और कहा कि संपत्ति से केवल धनी व्यक्ति की तरह रहा जा सकता है । मैत्रेयी ने विनती की कि महर्षि उसे अनन्तता प्राप्त करने का मार्ग बतायें । महर्षि ने उसकी माँग स्वीकार करते हुए कहा, **''मैं जो समझाता हूँ, उस पर मनन व निदिध्यासन करो ।''**

सामान्यतः श्रुति ब्रह्म के व्याकृत स्वरूप का दर्शन करवा कर, अधिक सूक्ष्मता की ओर ले जाकर, अन्त में अव्याकृत स्वरूप का दर्शन कराती है। (४.२ छांदो ७) में सनत्कुमार ने नारदजी को २३ सोपान चढा कर अन्त में भूमा (ब्रह्म) का ज्ञान कराया। (४.४ छांदो ८.७) में प्रजापति ने इन्द्र को चतुर्थ सोपान में ब्रह्मज्ञानी बनाया, तथा (५.३ तैत ३.२) में महर्षि वरुण अपने पुत्र भृगु को पंचम सोपान में ब्रह्मज्ञानी बनाते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को इस प्रकार की किसी सीढी पर चढने का निर्देश नहीं दिया, क्योंकि वह अकल्प्य पर मनन व निदिध्यासन करने में समर्थ थी। इसीलिये महर्षि कहते हैं : ''मै जो समझाता हूँ, उस पर मनन व निदिध्यासन करो।''

(#५) जो प्रेम–भावना, पति–पत्नी, पुत्र, धन–दौलत, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, इहलोक तथा परलोक, अथवा देवी–देवताओं एवं अन्य सभी के लिये पैदा होती है, वह सब मात्र आत्मा के लिये ही होती है। इस कारण मात्र आत्मा का ही साक्षात्कार करना चाहिये – आत्मा का ही श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये। आत्मज्ञान से सर्व का ज्ञान प्राप्त होता है (८.२.१ #७; बृहद् १.४.७)।

महर्षि यहाँ तीन सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं : प्रथम कहता है, कि जो कुछ आत्मीयता बताई जाती है, **वह वास्तव में ''आत्मा'' के लिये ही होती है;** अतः आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये – यह व्यावहारिक बात है। द्वितीय सिद्धान्त ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि आत्मीय–भावना स्व में से सर्व की ओर बहती रहती है – पति, पत्नी तथा पुत्रों से प्रारम्भ करके ''सर्व'' का उल्लेख है। इससे अधिक उत्कृष्ट त्याग की भावना कहाँ देखने को मिलेगी? ''सर्व के साथ आत्मीयता'' – अर्थात् मैं सर्व में तथा सर्व मुझमें ही है, यह है आत्मभाव। इस प्रकार नदी जैसे सागर में मिलकर स्वयं सागर ही बन जाती है, वैसे ही वह भी ब्रह्म ही बन जाता है। वैसे तो मैत्रेयी ने धन–दौलत त्याग कर अमर होने की भावना व्यक्त की, यह उसके त्याग की उत्तम प्रस्तुति है। वास्तव में तो यह उपदेश हम सभी के लिये है। **तृतीय सिद्धान्त :** त्याग बिना की परिचर्चा पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकती।

यही सर्वात्मभाव अद्वैत के लिये प्रयाण करता है : (#६) ''जो ब्रह्म को सर्व से अलग मानता है, उसका सब परित्याग करते हैं; यह सब ब्रह्म है।''

देखा जाए तो इस ऋचा का प्रथम भाग (१.६ आदितत्त्व–१ अ) का ही समर्थन करता है । दूसरा भाग (३.३ प्रमेय–४) का समर्थन करता है ।

एकता का सिद्धान्त : उपरोक्त ऋचा के अनुसार ब्रह्म, जो सर्व का कारण है, वह पात्र रूप से सर्व का समावेश करता है, ''सभी कार्य कारण में एक हो जाते हैं : (#७–९) नगाडा, शंख तथा वीणा की अनेक तरंगें एक सुर में एकत्रित होती हैं, उसी प्रकार प्राणियों की जाति, वर्ग अथवा श्रेणी की विविधता या विशिष्टता ब्रह्म से अलग नहीं है ।''

(#१०) ''वेद तथा अन्य शास्त्रों की ब्रह्म में से हुई उत्पत्ति, उसके श्वासोच्छवास जितनी ही स्वाभाविक थी ।'' इसका आशय है कि ब्रह्म सर्व ज्ञान–विज्ञान–सूचनाओं से स्वतन्त्र एवं सर्वोपरि है, क्योंकि ये सब ब्रह्म में से अत्यन्त स्वभाविक रूप से प्रगट हुए हैं । यह वेदों की श्रेष्ठता प्रस्थापित करता है । इस प्रकार वेदों के प्रत्येक सिद्धान्त (कर्मकाण्ड–अज्ञानी के लिये तथा ज्ञानकाण्ड–ज्ञानी के लिये) का श्रद्धा से पालन करना चाहिये ।

एकता के सिद्धान्त का खूब महत्त्व है, अतः इसे अन्य प्रकार से समझाया जा रहा है : **प्रत्येक कार्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपने सामान्य (व्यापक) स्वरूप की ओर प्रयाण करता ही रहता है ।** इसे समझाने हेतु उदाहरण देखें : (#११) ''पानी–समुद्र, अर्थात् पानी अपने व्यापक स्वरूप समुद्र की ओर गतिमान रहता है; इसी प्रकार स्पर्श–चर्म; सुगंधि–नाक; स्वाद–जीभ; रंग–चक्षु; आवाज–कान; मनन–मन; ज्ञान–ज्ञानेन्द्रिय आदि ।'' इसमें चर्म का उदाहरण देखें; प्रत्येक प्रकार के स्पर्श का संवेदन चर्म से ही प्राप्त होता है, अतः स्पर्श की गति उसके व्यापक स्वरूप चर्म, (प्रत्येक प्रकार का स्पर्श–मृदु, झटका देना, चुटकी भरना आदि) में एक होती है । यहीं वे सब समा जाते हैं ।

अब उपर दिये गये सिद्धान्तों का सामान्यीकरण करते हैं : ज्ञानेन्द्रियों की प्रत्येक तन्मात्रा का व्यापक स्वरूप मन का संकल्प है । मन का संकल्प यदि तन्मात्रा को स्वीकार न करे, तो उसके उद्‌भवों का भी ज्ञान नहीं होता । मन का संकल्प अपने व्यापक स्वरूप बुद्धि के विज्ञान में लय होता है; तथा वह प्रज्ञानघन परमात्मा में लय होता है ।

इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय वाक्, ग्रहण, गमन, (विष्टा) त्याग, तथा (काम) आनन्द अपने-अपने व्यापक रूप में प्रवेश करते हैं। ये सभी व्यापक स्वरूप प्राणमय हैं। क्योंकि प्राण से ही इन सभी अवयवों में शक्ति का संचार होता है। (कौषी ३.३) ''जो प्राण है वही प्रज्ञान (ब्रह्म) है; जो प्रज्ञा है, वही प्राण है।'' इस प्रकार जब दस इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि एक साथ व्यापक स्वरूप, ब्रह्म में लय होती हैं, तब सभी उपाधियाँ बिदाई ले चुकी होती हैं।

(बृहद् २.४.१२)[४] आगे श्रुति कहती है यह लय समरस (**homogeneous**) होता है (जल नमक का कारण है)। ''जब नमक जल, उसके कारण, में डाला जाता है तब वह पानी के साथ समरस हो जाता है। जब अज्ञान से पैदा हुए भेद-भाव शान्त हो जाते हैं, तब आत्मा ब्रह्म के साथ समरस हो जाता है तथा (लौकिक) चेतना शून्य हो जाती है।''

''चेतना शून्य हो जाती है'' यह कथन मैत्रेयी को असमंजसभरा प्रतीत हुआ। महर्षि विश्वस्त करते हैं कि ''इतनी जानकारी पर्याप्त है।'' आगे कहते हैं कि ''केवल अलौकिक शुद्ध चेतन शेष रहता है।'' वे यह न समझ सकी थीं कि जब (#११) के अनुसार सर्व विशेष चेतन अपने व्यापक, शुद्ध चेतन (ब्रह्म) में लय होता है, तब प्रपञ्च विलीन हो जाता है, इसीलिये संसारी चेतन को खो देते हैं। महर्षि द्वैत तथा अद्वैत का भेद समझाते हैं : (बृहद् २.४.१४)[५] ''जब द्वैत प्रवर्तता है तब सूंघना, बोलना, सुनना अथवा विचार सकना संभव हो सकता है, तथा समझा भी जा सकता है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी के लिये, जब सब कुछ आत्मा ही है, तब वह क्या सूंघे, किससे बात करे, किसे

---

४. (बृहद् २.४.१२)
स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योग्रहणायेवस्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाडस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।।१२।।

५. (बृहद् २.४.१४)
यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं श्रृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं श्रृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।।१४।।

सुने, क्या विचार करे तथा क्या समझे? ज्ञाता को किसके द्वारा जानना?'' (टीप ४.३, छांदो ७.२४.१) यहाँ ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। यह ब्रह्मज्ञानी की स्थिति है, वह अद्वैत में ही जीता है (२.८.१)।

८.३.३ मधु-विद्या (परस्पर मधुरता) (बृहद् २.५) : मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मज्ञान को अमर होने के साधन के रूप में प्रस्थापित किया गया है। इसमें कार्य व कारण के सम्बन्धों पर मनन व निदिध्यासन करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की युक्ति बताई गई है। अब अन्य युक्ति बतलाते हैं, जो इस निरीक्षण पर आधारित है : **''जो पदार्थ परस्पर उपकारक-उपकार्य होते हैं, उन सभी पदार्थों का उगम, अस्त व स्थिति एक ही तत्त्व में होती है, तथा वही इन सभी उपकारक-उपकार्य पदार्थों में समानता से व्याप्त होता है।''**

(बृहद् २.५.१-१४) १४ युगल इस प्रकार हैं : (१) पृथ्वी, प्राणी; (२) जल, प्राणी; (३) अग्नि, प्राणी; (४) वायु, प्राणी; (५) सूर्य, प्राणी; (६) दिशायें, प्राणी; (७) चन्द्र, प्राणी; (८) विद्युत, प्राणी; (९) बादल, प्राणी; (१०) आकाश, प्राणी; (११) धर्म, प्राणी; (१२) सत्य, प्राणी; (१३) मनुष्य, प्राणी; (१४) देह (समष्टि), प्राणी।

प्रथम पदार्थ इन सभी प्राणियों के लिये मधु है तथा ये प्राणी सभी के लिये मधु हैं। उदाहरण स्वरूप, हम प्रथम युगल (पृथ्वी, प्राणी) पर विवेचन करते हैं। शेष युगलों को उसी प्रकार समझ लेना।

हिरण्यगर्भ से लेकर दूर्वा की कोंपल तक – इन सभी के कर्मों का फल भोगने के लिये पृथ्वी का सर्जन हुआ है। जैसे मधुमक्खियों के लिये उनका छत्ता है, उसी प्रकार प्राणियों के लिये पृथ्वी का सर्जन हुआ है। जैसे मधुमक्खियाँ छाता बनाती हैं, वैसे ही भूतों ने पृथ्वी को बनाया है। इसीलिये पृथ्वी भूतों का उपकार मानती है, तथा **पृथ्वी भूतों का पोषण करती है,** इसलिये **भूत पृथ्वी का उपकार मानते हैं।**

यह पार्थिव पुरुष, जो पृथ्वी में तेजोमय तथा अमृतमय पुरुष है, और शरीर में रहनेवाला तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वह सर्व भूतों के लिये उपकारक है, तथा सभी भूत उनके लिये उपकारक हैं। अतः ये चारों (पृथ्वी, प्राणी, पार्थिव पुरुष, अमृतमय पुरुष) समस्त भूतों के उपकारक हैं तथा सर्व

भूत इन चारों के उपकारक हैं । अतः ऊपर बताये गये निरीक्षण के अनुसार इन सबका कारण एक ही होना चाहिये । जिस कारण से ये चारों उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है । इसी प्रकार शेष १३ युगलों को समझना चाहिये। ब्रह्म के अतिरिक्त सर्व **वाचारंभणं विकारो नामधेयं** (छांदो ६.१.४) – अर्थात् वाचा सर्व विकारों की मूल है, यह नाम मात्र ही है । मूल कारण सत्य ही है । इस आत्मज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है, स्वयं ब्रह्म हो जाते हैं, वही सर्व है ।

(#१५) प्रत्येक वस्तु ब्रह्म के साथ संलग्न है, यह दर्शाता हुआ एक उदाहरणः ''जैसे रथ के चक्र का आरा, चक्र के मध्य भाग व परिधि को जोड़ता है, उसी प्रकार सर्व प्राणी–देव–देवियाँ तथा लोग आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं ।''

इस उपासना का महत्व अनोखा है यह समझाने हेतु (#१६–१७) में महर्षि दध्यंगाथर्वण के बलिदान का आख्यान किया गया है : महर्षि दध्यंगाथर्वण ने अश्विनीकुमारों को यह विद्या सिखाने की प्रतिज्ञा की । स्वर्ग के राजा इन्द्र ने इसका विरोध करते हुए महर्षि को चेतावनी दी कि, यदि आपने यह विद्या किसी को भी दी तो मैं आपका मस्तक काट दूंगा । इस प्रकार यह एक धर्म संकट पैदा हो गया । महर्षि की प्रतिज्ञा का उल्लंघन न हो, इसलिये किसी भी कीमत पर यह विद्या अश्विनीकुमारों कों सिखानी ही थी । ये कुमार देवों के वैद्य थे, और संजीवनी विद्या में कुशल थे । इसलिये उन्होंने एक भयानक मार्ग निकाला । उन्होंने महर्षि का सिर काट कर एक तरफ सुरक्षित रख दिया और उसकी जगह घोडे का सिर जोड दिया । इस अवस्था में कुमारों ने मधुविद्या सीखी । जैसे ही इन्द्र ने यह मस्तक काटा, कि तुरत कुमारों ने उनका मूल मस्तक जोड़ दिया । यह मधु–विद्या के महत्व की पराकाष्ठा तथा महर्षि के वचन–पालन तथा बलिदान की भव्यता को प्रदर्शित करता है । दध्यंगाथर्वण का सिर काटने का पाप कुमारों को न लगा – यह मधु–विद्या का महत्त्व है ।

महर्षि दध्यंगाथर्वण मधु–विद्या का उपसंहार करते हुए कुमारों से कहते हैं (#१८–१९) ''उसने दो और चार पैर वाले प्राणी पैदा किये और प्रत्येक में पक्षी (सूक्ष्म शरीर) रूप में प्रवेश किया, अतः उन्हें पुरुष कहा जाता है । उसने स्वयं को ही प्रत्येक शरीर के स्वरूप में रूपान्तर किया, जिससे वह अनेक

तथा अगणित प्रतीत होता है; परन्तु माया के कारण ही । वैसे तो उसके आगे–पीछे कुछ नहीं है, न ही उसे बाह्य या आन्तरिक स्वरूप है । हमारा आत्मा, **जो सर्व का अनुभव करनेवाला है, वह ब्रह्म है ।''**

उपासना : जगत का परित्याग करके ऊपर दी हुई बातों पर श्रवण, मनन व निदिध्यासन के त्रिशूल से प्रतीति करो कि यह सर्व ब्रह्म के साथ ही एकाकार है : **एकं एव अद्वितीयं ।** इसके साथ महर्षि दध्यंगाथर्वण के उपसंहार को संलग्न करो ।

८.४ शास्त्रार्थ - वाद विवाद-मुनिकांड (बृहद् ३.४) :

वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रकरण–३ व ४ को मुनि–काण्ड कहा जाता है । क्योंकि इन प्रकरणों में मुनि श्री याज्ञवल्क्य विवाद–विचारणा तथा ज्ञानोपदेश में प्रमुख हैं । मधु–काण्ड (प्रकरण १–२) में शास्त्र के सिद्धान्तों (आगम) की स्थापना की गई है । हमने देखा है कि ये सिद्धान्त हमारे वेदान्त के मूलों की परिसीमा के भीतर ही हैं । यहाँ नये सिद्धान्त नहीं है परन्तु उन्हीं की पुष्टि (वाद–विवाद युक्त) तर्क (उत्पत्ति) से की गई है । इससे न समझे हुए, आधे समझे हुए, अथवा गलत समझे हुए सिद्धान्तों का निराकरण होता है, जिससे इसमें अविचल श्रद्धा उत्पन्न हो ।

प्रकरण–३ में महर्षि याज्ञवल्क्य जनक राजा के दरबार में प्रतिस्पर्धियों के साथ हुए शास्त्रार्थ वाद विवाद में अपने अभिप्राय प्रस्थापित करने में कभी–कभी जल्पवाद का भी प्रयोग करते हैं । अपरा व परा विद्या का प्रवाह प्रारम्भ से अन्त तक अस्खलित है । इसके सभी अंगों की चर्चा की गई है ।

प्रकरण–४ में परा–विद्या के सिद्धान्तों को पुनः प्रकाशित किया गया है, जो कहावतों तथा अविस्मरणीय पहेलियों से सजाये गये हैं, तथा तार्किक कथनों से सुशोभित हैं । दोनों प्रकरणों में दी गई उपासनाओं रूपी प्रत्यंचा पर श्रवण, मनन व निदिध्यासन (८.३.२, #५) के तीर को चढाकर (साध कर) ब्रह्मरूपी लक्ष्य को छेदना है ।

८.४.१ शास्त्रार्थ का प्रारंभ (बृहद्-३) : जनक राजा के दरबार में श्रेष्ठ वेद–वेदांत के विद्वानों का संमेलन आयोजित किया गया है । उन्होंने घोषणा

की है कि सर्वश्रेष्ठ वेद–विशारद को, एक हजार गायें, जिनका तीन औंस से अधिक स्वर्ण के आभूषणों से श्रृंगार किया गया है, इनका दान किया जाना है। किसी ने यह चुनौती स्वीकार नहीं की । अन्त में याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को ये गायें हाँक कर ले जाने का आदेश दिया । महाराजा के होतृ अश्वल ने विरोध किया और श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये विवाद प्रारंभ हुआ।

८.४.१.१ अश्वल के प्रश्न (बृहद् ३.१) : (#१–६) अश्वल ने होतृ, उद्गातृ तथा अध्वर्यु के कर्तव्यों के बारे में तथा यजमान को मृत्यु के चंगुल में से कैसे छुडाया जाय, इस विषयक प्रश्न पूछे । उपसंहार में ऐसा मालुम पड़ता है की होतृ यजमान की वाचा है, अध्वर्यु उसके चक्षु हैं, तथा उद्गातृ उसके प्राण हैं । मृत्यु के पार जाने हेतु यजमान को इन आचार्यों को अपने अनुसंगित अवयव समझना चाहिये । (#७–१०) इसके परिणाम स्वरूप ब्रह्म की अग्नि तथा सूर्य की प्राण स्वरूप प्राप्ति होती है (आदितत्त्व–४ क) । इस का परिणाम इस लोक की, पितृ लोक की अथवा स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है । ये प्रपंच के ही अंग हैं; मुक्ति नहीं है ।

८.४.१.२ आर्तभाग के प्रश्न (बृहद् ३.२) ग्रह तथा अतिग्रह : यहाँ प्रपंच में जकडे हुए व्यक्ति के, जन्म–मरण के अनन्त चक्रों में घुमानेवाले तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है । ग्रह ८ हैं : कान, चक्षु, चर्म, जिह्वा, नाक तथा मन, वाचा एवं हाथ (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, २ क्रर्मेन्द्रियाँ और मन) ।

प्रथम दृष्टि में उपरोक्त ग्रह के विषय को अतिग्रह मान लिया जाता है । वास्तव में तो वे इन्द्रियों की वासना के संस्कार हैं, जो व्यक्ति को कार्य में लगाते हैं, तथा जिनके फल भोगने के लिये मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म की भेंट मिलती है । इस प्रकार अतिग्रह मृत्यु के कारण बनते हैं । (८.२.१.१) से समझा जा सकता है कि व्यक्ति क्यों अतिग्रहों की पकड़ में जकड़ा हुआ रहता है ।

(ग्रह, अतिग्रह) का चक्र सामान्य व्यक्ति के लिये अनन्त बना रहता है। एक युग्म में से निकल कर दूसरे युग्म में फॅस जाना सामान्यतः अनिवार्य हो जाता है । उदाहरण स्वरूप (८.४.१.१) में अश्वल के प्रश्न के उत्तर में महर्षि कहते हैं कि यजमान जो आचरण करता है उसके फल स्वरूप **भूः भूवः**

अथवा **स्वः** लोक प्राप्त होते हैं । इस लोक के भोगों को भोगकर, पुण्य कर्म पूर्ण होते ही संचित कर्म के बल से अन्य युग्म में प्रवेश करना, व पुनर्जन्म प्राप्त होना संभव है । इस प्रकार मृत्यु में से मृत्यु की ओर ही गति रहती है । यह है कर्म व उपासना की महिमा ।

(#१-९) अब आर्तभाग के प्रश्नों का महर्षि द्वारा दिये गये उत्तर का उपसंहार करते हैं : (ग्रह, अतिग्रह) के आठ युग्म हैं : (कान, आवाज); (चक्षु, रूप); (चर्म, स्पर्श); (जिह्वा, रस); (नाक, गंध); (मन, वासना); (वाचा, नाम); (हाथ, कार्य) ।

(#१०) ये युग्म मृत्यु के लिये अन्न (भोजन) हैं । अग्नि इस मृत्यु का देवता है : अग्नि मृत्यु के लिये अन्न है, परन्तु जो सभी प्रकार की मृत्यु की मृत्यु है - वो आठों युग्मों को भक्षण कर लेता है, उसके लिये मृत्यु कहाँ से होगी? इस प्रकार इन आठों युग्मों को भक्षण करनेवाले को जानने से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है (#११-१२) मृत्यु के समय इस ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति की इन्द्रियों का लय होता है, तथा आत्मा परमात्मा में लीन होता है (१.६ आदितत्त्व-४ अ) । उसका नाम रह जाता है, तथा गुणी (सज्जन) लोग उन्हें याद करते हैं। (#१३) अब आर्तभाग कहता है कि जिसे मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ, उसकी इन्द्रियाँ अधिष्ठित देवों में लीन होती हैं (जिससे इन्द्रियाँ अपना कार्य न कर सकें) । अब वह प्रश्न पूछता है कि इस व्यक्ति का आश्रय क्या? (अर्थात् किसके आश्रय से वह किसी नये युग्म में प्रवेश करे?) यह प्रश्न गूढ होने के कारण वे एकान्त में मिले, तथा निर्णय किया कि इस व्यक्ति के कर्म इसे संसार चक्र में वापस लाते हैं । जबकि मोक्ष प्राप्त किये हुए व्यक्ति के कर्मों का नाश हो जाने से वह वापस नहीं आता - वह अक्षरत्व प्राप्त करता है। इसीलिये (भगी २.४७) कहती है, कि तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये । क्योंकि सत् कर्मों से व्यक्ति सद्गुणी बनता है, तथा दुष्ट कर्मों से वह दुष्ट बनता है । ये दोनों ही बन्धन के कारण हैं (१.६ आदितत्त्व-४ क) । **कर्मफल भावना के आधीन होते हैं** । माता बालक को चोट पहुँचाये, और अन्य व्यक्ति परेशान मन से ऐसा करे, इनके परिणाम भिन्न होते हैं । माता प्रेम व अभ्युदय की भावना रखती है, जबकि परेशान व्यक्ति क्रोध का निर्देश करता है ।

८.४.१.३ भुज्य के प्रश्न : (बृहद् २.३) वहाँ आर्तभाग के प्रश्नों की पूर्ति होती है । ऊपर (८.४.१.२) में देखा गया कि कर्म के अनुसार ही फल प्राप्त होता है । तो प्रश्न उठता है कि क्या सत् कर्म की पराकाष्ठा से मोक्ष प्राप्त हो सकता है? नहीं, अश्वमेघ यज्ञ किसी भी प्रकार के कर्म की पराकाष्ठा है, उससे हिरण्यगर्भ लोक प्राप्त होता है, जो प्रपञ्च से बाहर नहीं है। जहाँ साधन व साध्य होते हैं वहाँ उनके फल अधूरे ही होते हैं, उनसे मोक्ष कभी नहीं प्राप्त हो सकता । अन्तरात्मा की अनुभूति के लिये साधनों की आवश्यकता नहीं होती ।

८.४.१.४ उषस्त के प्रश्न : (बृहद् ३.४) अब यह निर्विवाद है कि कर्म तथा उपासना का फल अपूर्ण है । (८.२.१.१ #१५) की सलाह ''आत्मानं एव लोकमुपासीत'' मान्य रखते हुए उषस्त प्रश्न करता है । अब इस गहन पूछताछ का प्रवाह परा–विद्या की ओर अग्रसर हो रहा है ।

उषस्त पूछता है, ''जो ब्रह्म साक्षात् एवं अपरोक्ष है, और जो सर्व का अंतर्यामी है, वह समझाइये ।'' महर्षि उत्तर देते हैं, ''जो आत्मा तुम्हारे लिये अंतर्यामी है वही सर्व का अन्तर्यामी है । जो स्वयं अकर्ता रहकर पाँच प्राणों को क्रियाशील करता है वही सबका आत्मा है ।'' उषस्त को इस तटस्थ व्याख्या से संतोष न हुआ । वह कहता है, ''घडा मिट्टी का बना हुआ है'', यह बात जितनी स्पष्ट है, इतनी ही ब्रह्म की स्पष्टता करो । महर्षि कहते हैं, कि जो स्वयं अज्ञात रहकर सर्व कार्यों को कराता है, वही ब्रह्म है । (#२) ''जिसके द्वारा सुना जा सके, जिसे सुनना कठिन है, वह ज्ञान का दाता है, उसका ज्ञान अशक्य है – इत्यादि ।'' इससे स्पष्ट होता है कि सब कार्यों को करानेवाला स्वयं शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न है, तथा वह अज्ञात रहता है; वह प्रकाशक है, प्रकाश्य नहीं ।

८.४.१.५ कहोल के प्रश्न : (बृहद् ३.५) कहोल ने ऊपर उषस्त द्वारा पूछे गये प्रश्न का पुनरावर्तन किया, जिससे कि आत्मा को अधिक अच्छी तरह जाना जा सके । महर्षि ने इस पर आगे कहा, कि आत्मा को शरीर की अच्छी–बुरी दशायें जैसे भूख, प्यास, पीडा (शारीरिक अथवा मानसिक), भ्रम, वृद्धावस्था, मृत्यु आदि असर नहीं करती । महर्षि को विचार आया होगा कि यह मुमुक्षु है, इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो अनिवार्य है, वह

बतलाते हैं, ''पुत्रेषणा, वित्तेषणा, विश्वेषणा – इन तीन कामनाओं से दूर रहना चाहिये ।'' आगे महर्षि कहते हैं, कि एक कामना अन्य दो कामनाओं के लिये अंकुर रूप है, जिससे एक कामना अन्य दोनों कामनाओं को पैदा करती है । पुत्रेषणा का अर्थ है संसार के प्रति राग । भौतिक व दैविक समृद्धि को वित्तेषणा कहते हैं । इन दोनों का ही त्याग करना चाहिये । कर्म व उपासना से दैवी समृद्धि मिलती है, तथा इससे मन की मलिनता भी दूर होती है । इसका उपयोग इसी के लिये करना चाहिये, जिससे बन्धनमुक्त रहा जा सके, (ग्रह, अतिग्रह) के चक्रवात में नहीं फँसना चाहिये । मान–सम्मान की अभिलाषा विश्वेषणा है, जो त्याज्य है । शरीर चलाने के लिये जितना आवश्यक हो, उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये । सभी साधनों से दूर रहना चाहिये । कमण्डल भी एक साधन है, वह छुपी हुई वासना का निर्देश करता है ।

महर्षि अब आत्मानुभूति के सर्वोच्च शिखर पर चढने के सोपान बतला रहे हैं । मुमुक्षु को आचार्य के पास शास्त्राभ्यास द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त कर, साथ ही समस्त एषणाओं का व्युत्थान करके पांडित्य प्राप्त करना चाहिये । इस पाण्डित्य की पूर्णता से आत्मज्ञान के बल में स्थित होना चाहिये । बाल्य (अहंकार रहित, निर्दोषता आदि) तथा पाण्डित्य की पूर्णता प्राप्त कर मुनि (मनन द्वारा संशयों को दूर करे, वह मुनि) बनना चाहिये । यह निदिध्यासन है। मुनि अवस्था तथा उसकी विपरीत अवस्था – इन दोनों को गहराई से समझने पर वह ब्रह्मज्ञानी बनता है ।

बहुत से वेदान्ती पंडिताई को श्रवण कहते हैं, बाल्य तथा पंडिताई को मनन व मुनि कहते हैं, तथा इसकी विपरीत अवस्था की गहरी समझ को निदिध्यासन कहते हैं ; इसके साथ (८.३.२ #५) भी देखें । इस ब्रह्मज्ञानी को अब कोई आदेश, निषेध बन्धनकर्ता नहीं है ।

८.४.१.६ गार्गी के प्रश्न (बृहद् ३.६) : गार्गी ने, प्रपञ्च का विस्तार कितना है, यह जानने की जिज्ञासा की । यह प्रश्न ब्रह्म के कार्य की समीक्षा करता है । महर्षि प्रापञ्चिक लोकों की परम्परा चढते क्रम में बतलाते हैं, पूर्व लोक आगे आनेवाले लोक में ओतप्रोत है । जल, अग्नि, वायु, अंतरिक्ष, गांधर्वलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्र लोक, देवलोक, इन्द्रलोक प्रजापति (विरज) लोक, तथा ब्रह्मलोक (सत्यलोक) । कर्म तथा उपासना से यहाँ तक

पहुँचा जा सकता है । अब गार्गी उलझन भरा प्रश्न पूछती है : सत्यलोक का आवरण क्या है? महर्षि पेचीदगियों को समझते हैं, अतः कहते है, कि यह तर्क की परिसीमा है । कर्म व उपासना से प्रपञ्च के बाहर जाना संभव नहीं । वह ब्रह्म वाचा तथा मन की मर्यादा से बाहर है (टीप ५.३; तैत २.४) ऐसे अयोग्य प्रश्न से तेरा मस्तक गिर जायेगा । गार्गी अब शान्त हो गई ।

८.४.१.७ उद्दालक के प्रश्न (बृहद् ३.७) : गार्गी ने अचेतन लोक के विषय में जाँच की । अब उद्दालक चेतनतत्त्वों के विषय में प्रश्न करते हैं । यह तत्त्व हिरण्यगर्भ के लोक का अन्तरिम व गुह्य है, इसका निरूपण है । यह तत्त्व, शास्त्राभ्यास अथवा आचार्योपदेश से लभ्य है । उद्दालक ने कबम्ध नामक गन्धर्व को दो प्रश्न पूछे थे, उन्हीं का यहाँ पुनरावर्तन करते हैं । तथा कहते है, कि गंधर्व ने जो जवाब दिया था, वह उसकी स्वयं की जानकारी है। प्रश्न–१ : ब्रह्माजी से लेकर तुच्छ जन्तु तक तथा सर्व प्राणियों का यह जीवन, तथा इसके बाद वाला जीवन किस सूत्र से गुंथा हुआ है? प्रश्न–२ : क्या आप उस अन्तरात्मा को जानते हो जो इस जगत का, इसके बाद वाले जगत का तथा सर्व प्राणियों का नियमन करता है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी है, और सब कुछ जाननेवाला है, यह कबन्ध का कथन है । महर्षि को संपूर्ण जानकारी है : ''वायु ही सूत्र है; तुम्हारा आत्मा ही सर्वात्मा (ईश्वर) है । पंच महाभूतों में, सूर्य के समान दैवी तत्त्वों में तथा सर्व इन्द्रियों में इसका निवास है । वह सब में बसता है, परन्तु उसे कोई जानता नहीं है । यह सब उसका शरीर है; वह प्रत्येक शरीर में निवास करता हुआ सभी में चेतना प्रदान करता है । तुम्हारा आत्मा ही अंतरात्मा है, तथा वह नित्य है ।'' यह वृत्तान्त उषस्त (८.४.१.४) तथा कहोल (८.४.१.५) के प्रश्नों का पूरक है । वहाँ ब्रह्मा की पहचान क्रमशः तटस्थ तथा स्वरूप लक्षण से कराई थी; यहाँ वही ब्रह्म अन्तर्यामी होकर सर्व का नियमन करता है ।

अब गंधर्व कबन्ध के प्रमाण से महर्षि ब्रह्मज्ञानी के रूप में स्थापित (प्रमाणित) हो गये, परन्तु क्या वे ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं? यह प्रमाणित करना शेष है । तभी गायें हाँक कर ले जाने का अधिकार मान्य होगा । अतः वाद–विवाद अभी चल रहा है ।

८.४.१.८ गार्गी के पुनः प्रश्न (बृहद् ३.८) : अब गार्गी दूसरी बार प्रश्न करती है । वह ऊपर निरूपण किये गये ब्रह्म के विषय में पूछती है, जो क्षुधा आदि रहित, निरुपाधिक, साक्षात् तथा अपरोक्ष है । वह घोषणा करती है, कि **यदि महर्षि अब पूछे जानेवाले दो प्रश्नों का उत्तर देते हैं, तो वे सर्वश्रेष्ठ माने जायेंगे ।**

प्रश्न–१: ''जो स्वर्ग के ऊपर, पृथ्वी के नीचे तथा इन दोनों के बीच में है, वह कौन है? वही तत्त्व स्वर्ग है, तथा पृथ्वी भी है; वही भूत, भविष्य तथा वर्तमान है, और समग्र सर्जन, जो द्वैत है और उसके भीतर डूबा हुआ है?'' महर्षि उत्तर देते हैं, ''अव्यक्त आकाश ।'' गार्गी विनयपूर्वक नमस्कार करके उत्तर की सत्यता स्वीकार करती है । (#६–७) दूसरा प्रश्न पूछने से पहले, गार्गी पहले प्रश्न का पुनरावर्तन करती है, शायद, महर्षि को अन्य उत्तर देना हो! महर्षि पुनः वही उत्तर देते हैं । निडर सन्यासिनी को, (८.४.१.६) में जिस प्रश्न के पूछने के कारण उसे चेतावनी दी गई थी, उस जैसा ही प्रश्न पूछती है : ''अव्यक्त आकाश का आवरण क्या है?'' अव्यक्त का वर्णन करना दोष युक्त होगा, तथा उत्तर न देने पर हार माननी होगी! महर्षि उसकी चालाकी के चंगुल में फँसने वाले नहीं थे । वो इस बार जीवनमुक्तों का अभिप्राय बतलाते हैं : (#८) ''जीवनमुक्त उसे अक्षरब्रह्म कहते हैं ।'' तदुपरान्त **नेति नेति** समझाने हेतु उसे एक लम्बी सूचि देते हैं (८.३.१ #६; बृहद् २.३.६) । यह नकारात्मक उत्तर अवकाश का द्योतक नहीं है, क्योंकि ईश्वर के स्वरूप से वह कर्ता, भर्ता व हर्ता है । (#९) यह अक्षर ब्रह्म (ईश्वर) को सर्व का नियामक तथा उत्तेजक (प्रेरक) के रूप में प्रस्तुत करता है (१.६ आदितत्त्व–३) । (#१०) महर्षि कहते है कि उसे जाने बिना देह त्याग करने में भयंकर आपत्ति है । कर्मकाण्ड व उपासना के अभियान में रत रहकर अक्षर ब्रह्म को जाने बिना देह त्याग करने से प्रपंञ्च के प्रभाव में ही रहना होता है (१.६ आदितत्त्व–४ ब) । इसके विपरीत, जो अक्षरब्रह्म को जानने के पश्चात् देह त्याग करते हैं, वे अमर होते हैं (१.६ आदितत्त्व–४ अ) । (#११) महर्षि आगे कहते हैं : वह आँख, कान अथवा मन का विषय न होने से अगम्य है, परन्तु वही दृष्टा, श्रोता तथा विचारक है। यह संशयरहित है कि अव्यक्त आकाश ब्रह्म में ओत–प्रोत है ।

(#१२) **अब गार्गी ने महर्षि का सन्मान किया, और सभी को अनुरोध किया कि महर्षि को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ के रूप में मानें ।** क्योंकि ब्रह्म के विषय में महर्षि को कोई पराजित नहीं कर सकता ।

ऐसा प्रतीत होता है कि सभी वेद–विशारदों ने गार्गी के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, किन्तु शाकल्य इसके लिये तैयार न था । अब तक इस गंभीर व गूढ विषय की चर्चा–विचारणा सहकार तथा शान्तिपूर्व वातावरण में सरलता से हो रही थी, तथा ब्रह्मज्ञान के विविध अंगों की गहन रूप से समीक्षा हो रही थी । अब इसमें विघ्न आता है । प्रश्नार्थी अनर्थक विवाद करता है, तथा अपनी घृष्टता के सबब अपने सिर का बलिदान करता है । यह प्रसंग हम संक्षेप में देखेंगे ।

(८.४.१.९) शाकल्य के प्रश्न (बृहद् ३.९) : शाकल्य ने अपनी पूछताछ का प्रारंभ प्रपञ्च के तत्त्वों से किया, प्राणों के विषय में प्रश्न करने के पश्चात् उसने ब्रह्मज्ञान की दिशा में प्रगति की । यहाँ महर्षि उसे शिकंजे में लेते हैं, तथा सभासदों को विश्वास दिलाते हैं, कि शाकल्य ब्रह्मज्ञानी नहीं है। इस विभाग के अन्त में देखेंगे कि महर्षि किस प्रकार स्वयं को सर्वोत्तम सिद्ध करते हैं ।

संकोचन (#१-८) : इससे ज्ञात होता है कि सभी देवी–देवता मात्र एक ही देव, प्राण के विविध स्वरूप हैं । शाकल्य पूछता है, ''देव कितने हैं।'' यही प्रश्न बारम्बार पूछा जाता है । इसके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं : विश्वदेव के निविद में जो बताये हैं, उतने (असंख्य देव इन सबमें समाये हुए हैं); ३३०६ देव; ये ३३ देवों के रूपान्तर हैं, ६; ३; २; १.५; अन्त में महर्षि कहते हैं (#९) ''सभी देव प्राण (त्यत=हिरण्यगर्भ) के ही विविध स्वरूप हैं ।

प्राण के ८ स्वरूप (#१०-१७) : प्राण, जो ब्रह्म का ही स्वरूप है उसे आठ स्वरूपों में देखा जाता है; जिससे सम्यक् प्रकार से ध्यान किया जा सकता है । इस प्रार्थना के सामुहिक परिणाम स्वरूप प्राण के साथ एकत्व प्राप्त होता है । नीचे कोष्ठक में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है । प्राण के प्रत्येक स्वरूप के तीन अवयव :(निवास, चक्षु (क्षेत्र),ज्योति) बताये गये हैं ।

ज्योति के प्रकाश के बिना चक्षु लाचार हैं। प्राण के आठों स्वरूपों में ''मन'' ज्योति है। शाकल्य इस प्रकार की आठ त्रिपुटी एक के बाद एक प्रस्तुत करता है, तथा प्रत्येक के लिये दो प्रश्न करता है : प्रथम प्रश्न : यह पुरुष कौन है, जो शरीर तथा इन्द्रियों का आश्रय है? द्वितीय प्रश्न : इस पुरुष के अधिष्ठित देव कौन हैं? यह देव कारण रूप है, तथा पुरुष कार्य है।

उदाहरणतः हम १०.१वीं ऋचा को समझें : वह पुरुष कौन है, जिसका निवासस्थान पृथ्वी, जिसके चक्षु अग्नि तथा जिसकी ज्योति मन है? इसमें (पृथ्वी, अग्नि, मन) की त्रिपुटी निर्देशित है, और सर्वप्रथम प्रश्न किया गया है, ''इन तत्त्वों का शरीर तथा अंगों का आश्रयदाता कौन है?'' महर्षि उत्तर देते हैं, ''वह यही पुरुष है, जिसे शरीर समझा जाता है।'' अब दूसरा प्रश्नः ''इस पुरुष का अधिष्ठित देव कौन है?'' उत्तर : ''अमृत''। इसी प्रकार प्रत्येक के लिये (कारण, कार्य) के युग्म सम्बन्धी प्रश्न किये हैं। यहाँ अमृत, अर्थात् अन्न से पैदा हुए शरीर को पोषण देते तत्त्व।

ऋचा	निवासस्थल	चक्षु (क्षेत्र)	ज्योति	देव (कारण)	पुरुष (कार्य)
#१०.१	पृथ्वी	अग्नि	मन	अमृत	पुरुष, जिसे शरीर माना जाता है।
#११.२	विषय–वासना	बुद्धि	मन	स्त्री	पुरुष जो वासना के साथ संबद्ध है।
#१२.३	रूप	चक्षु	मन	सत्य	सूर्य में निवास करता पुरुष।
#१३.४	आकाश	श्रोत्र	मन	दिशायें	कान का देवता
#१४.५	अंधकार	बुद्धि	मन	मृत्यु	अज्ञान
#१५.६	रूप	चक्षु	मन	प्राण	प्रतिबिम्ब में रहता पुरुष
#१६.७	जल	बुद्धि	मन	वरुण (बरसात)	पानी का देवता
#१७.८	बीज(वीर्य)	बुद्धि	मन	प्रजापति (पिता)	पुत्र

१२.३ तथा १५.६ स्वरूप एक ही दिखाई देते हैं। प्रथम में मूल रंग–रूप हैं, जबकि दूसरे में प्रतिबिम्बित रंगों (रूप) के विषय में पूछा गया है।

(#१८–१९) यहाँ महर्षि शाकल्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं, ''क्या इन कुरू और पांचाल के ब्राह्मणों ने तुमको अंगारे पकडने का चिमटा बनाया है?'' शाकल्य महर्षि को श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी की मान्यता नहीं देता है, चेतावनी की उपेक्षा करके प्रश्नों की वर्षा करता है ।

प्राण के ५ स्वरूप - अन्य दृष्टि (#२०-२६) : अब प्राण (हृदय) देवता पाँच दिशाओं में संलग्न है, अथवा पाँच दिशायें प्राण में एकत्र हैं, इस दृष्टिकोण से प्राण की उपासना बताई गई है । इन पाँच दिशाओं का समूह समग्र जगत को समेट लेता है, इस प्रकार प्राण जगत का कारण रूप है । प्रत्येक दिशा का अधिष्ठाता देवता नियुक्त है । प्रत्येक दिशा के अधिष्ठाता देव से प्रारंभ करके अन्तिम ध्येय – प्राण तक पहुँचने के मार्ग बताये गये हैं । मार्ग में जो भी विश्राम स्थल हैं, वे भी बताये हैं । विश्राम स्थल, उसके पूर्व के स्थान का आधार (कारण) है । पूर्व का स्थान कार्य है । इस प्रकार प्राण अन्तिम कारण होता है, तथा दिशा आदि कार्य है । इस उपासना का सामुहिक परिणाम प्राण (हिरण्यगर्भ) के लोक की प्राप्ति है ।

(#२०) मैं पूर्व दिशा हूँ, मेरा देवता सूर्य है, जिसका आधार चक्षु है, चक्षु का आधार रंग है, रंग का आधार हृदय है । हृदय से ही रंग को पहचाना जा सकता है (यह सूर्य विराट के चक्षु में से पैदा हुआ है, इस प्रकार विराट इसका कारण है) ।

(#२१) मैं दक्षिण दिशा हूँ। मेरा देवता यम है,जिसका आधार यज्ञ है, यज्ञ का आधार दक्षिणा है; दक्षिणा का आधार श्रद्धा है। हृदय ही श्रद्धा का उगम स्थान है (यम पर यज्ञ से विजय प्राप्त होती है–इससे यज्ञ कारण बनता है)।

(#२२) मैं पश्चिम दिशा हूँ, मेरा देवता वरुण है, जिसका आधार जल है, जल का आधार बीज (वीर्य) है, बीज का आधार हृदय है । वस्तुतः बीज का आधार पिता का हृदय है (जल कारण है, वरुण कार्य है) ।

(#२३) मैं उत्तर दिशा हूँ । मेरा देवता चन्द्र है, जिसका आधार दीक्षा है, दीक्षा का आधार सत्य है, सत्य का आधार हृदय है । हृदय से ही सत्य को जाना जा सकता है(चन्द्र लोक की प्राप्ति के लिये दीक्षा लेनी आवश्यक है)।

(#२४) मैं ऊर्ध्व दिशा हूँ । मेरा देवता अग्नि है, अग्नि का आधार वाचा है, वाचा का आधार हृदय है (अग्नि का कारण वाचा है) ।

हमने ऊपर देखा **प्रत्येक देव का अन्तिम कारण हृदय (प्राण) है** । वैसे तो ये पाँच विभाग हृदय के ही हैं, तथा प्रत्येक विभाग एक-एक दिशा का प्रतीक है । समस्त जगत आत्मा है इसका ज्ञान हृदय से ही होता है । शाकल्य अभी भी प्रश्नों की झडी लगाये हुए है - महर्षि को उलझन में डालने के हेतु से । वह पूछता है, हृदय का आधार कौन है?

(#२५) कुशाग्र बुद्धि महर्षि कहते हैं कि यदि हृदय का आधार अन्य कोई हो तो व्यक्ति की मृत्यु हो जायेगी, और कुत्ते शरीर का आहार करेंगे । यों तो नाम, रूप तथा क्रिया युक्त शरीर का आधार आत्मा ही है, जो हृदय स्वरूप में प्रतीत होता है । महर्षि ऐसे तुच्छ प्रश्न से क्रोधित भी हुए, फिर भी शाकल्य के प्रश्न-बाणों की मार जारी है । वह पूछता है :

(#२६) ''आप और आपके आत्मा (हृदय) का आधार कौन?'' उत्तरः ''प्राण''। प्राण→अपान; अपान→व्यान; व्यान→उदान; उदान→समान। इन पाँच प्राणों के संयुक्त व सहकारी व्यवहार से शरीर तथा हृदय (मन) स्थाई रहता है । महर्षि आगे आत्मा की व्याख्या करते हैं : ''नेति नेति'' (८.३.१.२ #६) । इस निरपेक्ष (निर्गुण) तत्त्व में चार 'न' कार आते हैं : **अग्राह्य, अविनाशी, असंग तथा अमूर्त** (स्वतन्त्र); इस कारण वहाँ हानि अथवा दुःख नहीं है ।

एक पर एक प्रश्न पूछ कर शाकल्य अपनी ही कब्र खोद रहा है । अब महर्षि उसकी कमजोरी पा गये हैं, और स्वयं प्रश्न करते हैं : ''मुझे निर्णयात्मक रूप से बताओ कि ८-वर्ग (८.४.१.९, #१०-#१७) जिनके चार एकम निवासस्थान, चक्षु, देव तथा पुरुष हैं, जिन्होंने इस देव को अपने हृदय में स्थान दिया है, तथा जो सभी उपाधियों से पर है, **जो मात्र उपनिषद् से ही पहचाना जा सकता है वह पुरुष कौन है?''** महर्षि आगे कहते हैं, ''यदि तुम इसका उत्तर न दोगे तो तुम्हारा सिर कट जाएगा ।'' शाकल्य के पास इसका उत्तर न था, अतः वह महर्षि के श्राप का भोग बना !

इससे सीखना चाहिये कि ब्रह्मज्ञानी के साथ अनावश्यक विवाद न करें।

उपासना विधि : जगत की तथा जीवों की उत्पत्ति के लिये चार एकम वाले आठ–वर्ग #१०–१७ पर श्रवण, मनन व निदिध्यासन करो तथा उन्हें पाँच दिशाओं द्वारा आत्मा में समेट लो । यह ईश्वर है । इसका निरपेक्ष तथा निर्विकार स्वरूप का वर्णन **''नेति नेति''** द्वारा हुआ है; यह तत्त्व मैं ही हूँ और सर्व से भिन्न हूँ ।

महर्षि, सर्वश्रेष्ठ : (#२७) शाकल्य पर ज्वलंत विजय प्राप्त करने के पश्चात् महर्षि, महाराजा जनक के दरबार में उपस्थित सभी प्रतिभावान वेद विशारदों को चुनौती देते हैं, ''आप में से कोई भी विद्वान्, अकेला अथवा यथायोग्य समूह में, कोई भी प्रश्न कर सकता है ।'' महर्षि की परीक्षा करने का किसी में भी साहस नहीं है । एक भी प्रश्न न पूछा गया, इसलिये उन्होंने कृपा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की एक अलग पद्धति बतलाई, जिसका श्रवण, मनन व निदिध्यासन करते रहना चाहिये । इस पद्धति की विशिष्ठता यह है कि यहाँ ब्रह्म की पहचान सकारात्मक रूप में होती है, तथा नकारात्मक प्रयोगों की कडी टूटती है । इस प्रकार महर्षि स्पष्ट रूप से अपनी सर्वोपरिता सिद्ध करते हैं ।

अनुपस्थित तत्त्व की खोज में (#२८) : वृक्ष के अवयवों को शरीर के अवयवों के समान बताया जाता है । जहाँ समानता बतानी कठिन प्रतीत होती है, उसका समाधान करना है । यहाँ आत्मा (निरपेक्ष ब्रह्म) की खोज है।

#(२८.१–२८.७) वृक्ष के पान→बाल; छाल→चर्म; रस→रक्त; छाल में से रस स्राव होना → रक्त बहना; छाल के भीतर की पर्त → मांस; छाल की भीतरी दूसरी पर्व → पेशी (नस के साथ); लकडी→हड्डियाँ, मध्य भाग का नरम पदार्थ (pith) – हड्डी के बीच की जगह को भरनेवाली चर्बी युक्त मज्जा ।

इसमें वृक्ष के मूल के विषय में निर्देश नहीं है । उसके संदर्भ में दो प्रश्नः १: मूल को हानि पहुँचाये बिना जब वृक्ष को काटा जाता है, तब वृक्ष अपने मूल में से पुनः पैदा हो जाता है । मनुष्य कौन से मूल में से पुनः पैदा

होता है? प्रश्नः २ – वृक्ष को जड के साथ उखाड देने पर पुनः वह वृक्ष पैदा नहीं होता । मनुष्य का ऐसा कौन सा मूल है, जिसे काट देने पर वह पुनः जन्म नहीं लेता?

जनक राजा के दरबार में किसी को भी इसका उत्तर ज्ञात नहीं था, अतः महर्षि स्वयं निराकरण करते हैं । इस प्रकार वे अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित करते हैं ।

उत्तर-१ : ब्रह्म को जाने बिना जो मृत्यु पाता है, वह संचित कर्म भोगने हेतु पुनः जन्म लेता है । कर्मफल दाता ब्रह्म है, संचित कर्मो पूनर्जन्म का मूल है ।

उत्तर-२ : जीवनमुक्त के सभी कर्मों का विलय हो जाने के कारण उसका पुनर्जन्म नहीं होता । कर्मो ही प्रपंच का मूल है । (#२८.७) ब्रह्म – विज्ञानमानन्द स्वरूप लक्षण (१.६ आदितत्त्व–१ ब) हो जाता है ।

मोक्ष का मार्ग : प्रपञ्च के मूल – ब्रह्म पर श्रवण, मनन व निदिध्यासन करो । जिस तत्त्व को राजा जनक के सभासद् जानते न थे वह उन्हें जानना चाहिये, जिससे वे कर्मफल भोक्ता के बदले कमफल दाता बनें ।

८.५ स्नेहभरा उपदेश (बृहद-४) :

महर्षि याज्ञवल्क्य तथा राजा जनक के दरबार में सुशोभित वैदिक धुरन्धरों के मध्य हुए शास्त्रार्थ–विवाद में आदान–प्रदान चलता था, और उसमें ब्रह्मज्ञान का श्रेष्ठतम फल प्राप्त होने तक की पद्धतियों पर चर्चा हुई (८.४) । अब अंतर्प्रेम व स्नेह भरे वातावरण में महर्षि, महाराज जनक तथा अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान के अन्य मार्ग बतलाते हैं ।

८.५.१ षडाचार्य ब्राह्मण : जनक की समझ की पूर्ति : महर्षि याज्ञवल्क्य, जो राजा जनक के आध्यात्मिक गुरू हैं, उन्हें कौतूहल हुआ कि महाराजा सत्संगी है, तथा अन्य संतों का मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त है, तो वे योग्य दिशा में प्रगति कर रहे हैं, अथवा गलतफहमी से अन्य कोई मार्ग तो नहीं अपना रहे? महर्षि पूछते है, ''महाराज, अन्य गुरुओं ने आपको क्या सिखाया

है?'' महाराजा ने बताया कि छै (षड्) आचार्यों ने उन्हें शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों को ब्रह्म समझ कर उन पर उपासना करने को कहा था । महर्षि ने अभिप्राय दिया कि प्रत्येक उपासना का ब्रह्म मात्र एकपदी (ब्रह्म के चार पद है) ही है, तथा उन अंगों के अधिष्ठाता देव का आधिपत्य प्राप्त करने के लिये उसका आधार व निवासस्थान आवश्यक है, उसकी जानकारी इसमें नहीं दी गई है । महाराजा की विनती को मान कर महर्षि ने उपासनाओं का पूर्ण स्वरूप बताया । रूपान्तरित हुई उपासनाओं की सारिणी इस प्रकार है :

इन्द्रिय	देवता	निवास	आधार	लक्ष्य
(#२) वाचा	अग्नि	वाचा	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, ज्ञानमय
(#३) प्राण	वायु	प्राण	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, प्रिय
(#४) चक्षु	सूर्य	चक्षु	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, सत्य
(#५) कान	दिशायें	कान	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, अनन्त
(#६) मन	चन्द्र	मन	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, आनन्द
(#७) हृदय	प्रजापति	हृदय	अव्यक्त आकाश	ब्रह्म, अचल

उदाहरण स्वरूप वाचा पर उपासना किस प्रकार करनी चाहिए यह देखते हैं : वाचा को ब्रह्म समझकर उपासना करो । यह ब्रह्म ज्ञानी है; वाचा का अधिष्ठाता देव अग्नि है जिसका निवासस्थान भी वाचा ही है तथा यह अव्यक्त आकाश पर आधारित है ।

इन उपासनाओं का उत्तमोत्तम परिणाम है उस देव का आधिपत्य प्राप्त करना । (१.६ आदितत्त्व-४ क) उपासक शरीर, इन्द्रियाँ तथा मृत्यु के साथ संलग्न ही रहता है । जिससे वह कार्यरत रहता है तथा जिसमें दुःखों का अन्त नहीं है । सभी छै अंगों की संयुक्त उपासना का फल हिरण्यगर्भ के लोक की प्राप्ति है, क्योंकि ये सब देव हिरण्यगर्भ की ही आवृत्ति है, तथा उसी में संलग्न होते हैं (८.४.१.९, #९) । इससे क्रम-मुक्ति प्राप्त हो सकती है (१.६ आदितत्त्व-४ ब) ।

८.५.२ कूर्च ब्राह्मण : अज्ञात दिशा में प्रयाण : (बृहद् ४.२) उपरोक्त षडाचार्य विद्या से महर्षि सन्तुष्ट न थे क्योंकि उसका फल अपूर्ण है । शिष्य

को अमरत्व प्राप्त कराने हेतु प्रश्न करते हैं : (#१) ''प्रत्येक यात्री अपना गन्तव्य स्थान निश्चित् करके उसी के अनुसार रथ या नौका की व्यवस्था करता है । यह शरीर त्यागने के पश्चात् आप कहाँ जाओगे ये निश्चित् किया है? महाराजा गन्तव्य स्थान से अज्ञात होने के कारण महर्षि इस का ज्ञान कराते हैं ।

अपने प्रश्न के उत्तर में महर्षि, ऊपर बताई गई षडाचार्य–विद्या (८.५.१), जो जागृत अवस्था की वैश्वानर–विद्या का स्वरूप है, उसके विस्तार रूप में ब्रह्म की स्वप्न की तैजस अवस्था का ज्ञान कराते हैं । तत्पश्चात् वे सुषुप्ति की प्राज्ञ अवस्था का ज्ञान करवा कर उसके दूसरे पार तुरीय अवस्था पर ले जाकर ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हैं । (४.४) में प्रजापति इन्द्र को इस प्रकार के व्यष्टि रूप के चार सोपानों द्वारा ब्रह्मज्ञान देते हैं । महाराजा अजातशत्रु भी गार्गेय को यही मार्ग बतलाते हैं, परन्तु प्रथम दो सोपान नहीं बतलाते, क्योंकि गार्गेय को उनका ज्ञान था (८.३.१) ।

तैजस स्वरूप की उपासना : (#२–३) स्वप्नावस्था में ब्रह्म तैजस स्वरूप में होता है, उसकी उपाधि मन–बुद्धि है । इस स्थिति में सूक्ष्मतत्त्वों का अनुभव होता है । दाँये चक्षु में जो पुरुष है (८.३.१.२) वह इन्द्र (महान्) है, जिसका उपनाम ईंध है; बाँये चक्षु में जो व्यक्ति है वह विराज है और वह ईंध की पत्नी है । हृदय उनका मिलन स्थान है । हमारी खुराक (भोजन) के सूक्ष्म तत्त्व इस दंपति का पोषण करते हैं । वैश्वानर से भी अधिक सूक्ष्म तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर का पोषण होता है (१.६ निरीक्षण–३) । हृदय में से प्रसरती हिता नाडियों से (टीप ८.२, बृहद् २.१.१९) बने राजमार्गों पर यह दंपति यात्रा करता है । ब्रह्म के इस तैजस स्वरूप को मृत्यु की छाया प्रभावित नहीं करती। इस प्रकार वैश्वानर की अपेक्षा बहुत प्रगति हुई है, परन्तु यह अवस्था वासना से मुक्त नहीं है (इन्द्र–विरोचन ४.४.२) । हमें इससे भी आगे बढना है ।

प्राज्ञ स्वरूप की उपासना (#४) : सुषुप्त अवस्था में मन–बुद्धि व इन्द्रियाँ प्राण में लीन होते हैं । केवल प्राण अपनी क्रिया जारी रखता है, तथा आत्मा अपने मूल स्वरूप का आनन्द अनुभव करता है । यह प्राज्ञ स्थिति है । यहाँ ब्रह्म अपनी उपाधि, प्राण के स्वरूप में प्रकट होता है । इस अवस्था में प्रपञ्च के कारण (बीज) स्वरूप का अनुभव होता है । प्राज्ञ अवस्था में पाँचों

दिशायें प्राण के उस स्वरूप को समा लेती हैं। उदाहरणतः पूर्व दिशा में ब्रह्म पूर्व–प्राण के स्वरूप में पहचाना जाता है (८.४.१.९#२०–२४)। प्राज्ञ अवस्था में जहाँ–जहाँ प्राण है (सभी दिशायें)उन सबका समावेश हो जाता है। अतः प्राण की परिसीमा तक प्राज्ञ पहुँच सकता है(१.६ आदितत्त्व–४ क)।

इस अवस्था में अन्य कोई भी प्रकार की वासना को स्थान नहीं है; यह प्रशान्त तथा निर्मल अवस्था है । परन्तु इस अवस्था में किसी भी प्रकार का आभास नहीं होता । यह अज्ञान अवस्था है । ब्रह्म तो चेतन है (निश्चयी इन्द्र का मनोमन्थन ४.४.३), प्रथम दो अवस्थाओं की अपेक्षा यह उच्च अवस्था है, परन्तु ब्रह्म की सर्वज्ञता का उल्लंघन होने के कारण यह अपूर्ण अवस्था है।

तुरीय अवस्था : उपरोक्त अवस्था में इन्द्रियाँ तथा मन प्राण में लय होते हैं । यह व्यक्ति क्रमशः प्राण के सर्वात्म भाव को प्राप्त कर अब प्राण को अन्तरात्मा में मग्न करता है । इससे साक्षी स्वरूप आत्मा की मूलभूत ब्राह्मी अवस्था प्राप्त होती है, जो ''नेति नेति'' से प्रख्यात है । यह ब्रह्म (८.३.१.२, #६, बृहद् २.३.६) के अनुसार अमूर्त व सर्वज्ञ है ।

८.५.३ ज्योतिर्ब्राह्मण (बृहद ४.३) : राजा जनक गुरू याज्ञवल्क्य को पूछते हैं, ''व्यक्ति के लिये प्रकाश का मूल क्या है?'' प्रश्न की व्याख्याः ऐसे प्रकाश की आवश्यकता है जो हमारी दृष्टि के अतिरिक्त चेतना तथा संवेदनशीलता को हर परिस्थिति में जगमगाती रखे, भले ही प्रकाश का साधन अव्यक्त हो । उत्तर मिलता है : ''आत्मा का प्रकाश ।'' शारीरिक चेतन, जैसे कि स्पर्श, श्रोत्र, चक्षु, वाणी अथवा रसना आदि का तेज धुंधला हो सकता है (आँख, कान आदि अपने कर्तव्य को भूल सकते हैं) । दैवी प्रकाश, जैसे सूर्य, चन्द्र आदि स्वप्नावस्था में सहायक नहीं होते । स्वप्न में रथ अथवा घोडे आदि देखने को जिस प्रकाश की आवश्यकता होती है, अथवा सुषुप्त अवस्था में ''मैं अपूर्व शान्ति से सोया'' ऐसा ज्ञान करानेवाले जिस प्रकाश को हम खोज रहे हैं, वह केवल आत्मा ही दे सकता है । केनोपनिषद् (टीप ४.५, केन १.३) में कहा गया है कि प्रकाश का पात्र अव्यक्त है । इस प्रकार स्वप्रकाशित, अविरत चेतना का मूल शरीर तथा इन्द्रियों से पर है । अविरत प्रकाश प्राप्त करने हेतु श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये ।

अब श्रुति कहती है कि आत्मा ही तीनों अवस्थाओं (जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति) में प्रकाश का साधन है, तथा वह स्वयं निर्लिप्त रहता है ।

(#७) चेतन का चेतन : वैसे तो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ अथवा शरीर स्थूल पदार्थों से बने हुए हैं, परन्तु हम इन सबको चेतनायुक्त समझते हैं । तो इनमें चेतना का संचार करनेवाला कौन है? श्रुति स्पष्ट उत्तर देती है : ''हृदय में निवास करते, अनन्त तथा स्वप्रकाशित चेतन को प्रत्येक इन्द्रियों के मध्य रहनेवाली बुद्धि मान लिया जाता है; बुद्धि का स्वरूप धारण करके वह दो लोकों में भटकता है । वह (मन की तरह) विचार करता है तथा (शरीर की तरह) कम्पन करता है ।''

यह पुनः सिद्ध करता है कि आत्मा शरीर, इन्द्रियाँ व मन से पृथक् है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा के चेतन से ही बुद्धि (तथा अन्य अवयव) चेतनायुक्त बनते हैं । इस प्रकार आत्मा ही चेतन का चेतन है । यह (१.६ आदितत्त्व–३) के अनुसार है ।

दो लोक (#८-९) : अब ऊपर बताये ''दो लोक'' क्या हैं, यह देखते हैं: वे आध्यात्मिक दृष्टि से जागृत व सुषुप्त अवस्था हो सकती है अथवा आधिदैविक दृष्टि से यह लोक व परलोक हो सकते हैं । इन दो युग्मों को एकरूप समझाया गया है । स्वप्नावस्था को यह लोक तथा परलोक का संधिस्थान माना गया है क्योंकि स्वप्न में इस लोक के अनुभव तथा इस लोक में अकल्पनीय तथा अननुभवीय प्रसंग दिखाई देते हैं, जिन्हें परलोक के रूप में माना जाता है । स्वप्नावस्था में जैसे इस लोक को एक तरफ रखकर काल्पनिक वस्तुएँ प्रकट होती हैं, वैसे ही परलोक गमन के समय भी इस लोक से भिन्न आत्मा के प्रकाश से ही अज्ञात में प्रयाण होता है ।

तीन अवस्था (#१०-१९) : स्वप्नावस्था में घोडे, रथ, अथवा रथ के जाने के मार्ग दिखाई देते हैं, यह आत्मा के प्रकाश के ही कारण है । इस अवस्था में शरीर तथा इन्द्रियाँ अचेतन होते हैं, केवल प्राण तथा मन (बुद्धि) क्रियाशील होते हैं । यहाँ आनन्दमय, भयावने अथवा दुःखमय घटनाओं का अनुभव होता है । जागृत अवस्था में आते ही यह सब नष्ट हो जाता है, इसके अवशेष भी नहीं रहते । जैसे मछली सरोवर के एक किनारे से दूसरे किनारे

तक घूमती है, वैसे ही व्यक्ति इन दो (जागृत व स्वप्न) अवस्थाओं में विचरता है । आत्मा के प्रकाश से ही यह संभव है । जैसे बाज पक्षी इधर–उधर घूमने से थककर अपने घोंसले में वापस आता है उसी प्रकार व्यक्ति इन दो अवस्थाओं में से निकल कर विराम लेता है । यह सुषुप्त अवस्था है । इस अवस्था में स्वप्न को स्थान नहीं है । यहाँ मन निष्क्रिय हो जाता है, केवल प्राण अपना कर्तव्य निभाता रहता है । मन की निष्क्रियता के कारण दुःखों की मूल–वासना, बिदा ले लेती है, और परम शान्ति का अनुभव होता है ।

स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था का विश्लेषण (#२०-२२) (देखो २.४) : हिता नाडियों का जाल (८.३.१ #१९) सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान है जो मन की कल्पनायें, पूर्व की घटनायें, तथा जागृत अवस्था के प्रसंगों का संग्रहस्थान (memory–चित्त) है । स्वप्नावस्था में ये संग्रहित प्रसंग अस्त–व्यस्त होकर मन में प्रवेश करते हैं, और कभी उल्लासमय, कभी दुःख प्रद अथवा कभी भयजनक रूप में प्रकट होते हैं । इनमें क्रियाशीलता तथा वासना होती है जिसका कारण अज्ञान है । जब मन इससे निवृत्त होता है, तब स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा का अनुभव होता है, उस समय क्रियाशीलता तथा वासनायें दूर हो जाती हैं, अन्य किसी का अस्तित्व न होने से निडरता रहती है (भय का कोई कारण ही नहीं है) । यह सुषुप्त अवस्था है । इससे सिध्ध होता है की क्रिया तथा वासना आत्मा का स्वभाव नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में वे बिदा हो चुके होते हैं ।

एक तथा अद्वितीय (#२३-२४) : आत्मा को स्वयं ज्योति अर्थात् विशुद्ध चेतन कहा है, तो सुषुप्त अवस्था में उसका ज्ञान क्यों नहीं रहता? क्योंकि ''इस स्थिति में अन्य किसी का अस्तित्व नहीं होता; जो देख सके, सूंघ सके, चख सके, बोल सके, सुन सके, विचार सके, छू सके या अनुभव कर सके । वह अकेला मात्र एक ही है । विज्ञाता की विज्ञान शक्ति का कभी लय नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है । प्रपञ्च पूर्व कर्मों का परिणाम है । आत्मा के आनन्द की एक मात्रा पर ही अन्य प्राणी जीते हैं ।'' (आनन्द के परिमाण के लिये ५.२.५ देखें) ।

गमनागमन (#३५-३८) : यहाँ परलोकगमन को समझाने वाली उपमायें दी गई हैं : ''जब शरीर वृद्धावस्था तथा तकलीफों से जर्जरित होता है तब, जैसे आम डाल से अलग हो जाता है, उसी प्रकार जीव शरीर त्यागता है और जिस मार्ग से प्रारब्ध कर्म भोगने को आया था उसी से वापस जाता है। शरीर त्यागते समय, जैसे माल–सामान से लबालब भरा गाडा चरमर–चरमर आवाज करता हुआ जाता है, उसी प्रकार कर्मों से लदा हुआ जीव आत्मा की अध्यक्षता में प्रयाण करता है।''

इस चेतना का चेतन, जो अनन्त व अविचल है, उस पर श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये, वही सर्व का उपादान कारण होते हुए भी असंग है।

(८.५.४) शरीर ब्राह्मण (बृहद् ४.४) : ऊपर हमने देखा कि कर्मों से लदा हुआ जीव आत्मा की अध्यक्षता में अन्य लोक में प्रयाण करता है। अब इस परलोक गमन को विस्तारपूर्वक देखते हैं।

(#१–४) देह त्याग के समय शरीर कमजोर हो जाता है; इन्द्रियों की क्रियाशक्ति उनके अझिष्ठाता देवों में इकट्ठी हो जाती है। इन्द्रियाँ मन में तथा मन (इन्द्रियों के साथ) प्राण में समा जाते हैं। मन भी निष्क्रिय हो जाता है। यह सुषुप्त अवस्था की स्थिति है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर संकुचित होकर प्रस्थान को तैयार होता है। जब अंतरात्मा, जो वस्तुतः सर्व का आत्मा है, वह प्रस्थान करने लगता है तब प्राण अपने आश्रय में रहती इन्द्रियों (तथा मन) के साथ ऊर्ध्वगमन करता है। यदि वह चक्षु के द्वार से निर्गमन करता है तो सूर्यलोक को प्राप्त करता है, और ब्रह्मरंध्र के द्वार से ब्रह्म–लोक (सत्यलोक) पहुँचता है। जैसा कि पुराणों में प्रचलित है कि यमराज न्याय करते हैं, और तदनुसार ही लोक में गति कराते हैं, यह इसका दर्शन कराता है। हम ऊपर कह आये हैं कि शरीर के जिस अवयव द्वारा प्राण गति करते हैं, वही अन्तिम स्थान का निर्णय करता है। इस प्रकार प्राण त्यागने के समय ही न्याय मिल जाता है।

गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के पश्चात् उसी लोक के अनुसार शरीर प्राप्त होता है (टीप ७.१; मुण्ड ३.२.२)। जैसे एक कीट एक पत्ते के किनारे पर

आकर दूसरे पत्ते पर कूद कर अपनी वासना शान्त करता है उसी प्रकार जीव दूसरा शरीर धारण करता है वहाँ उसकी अप्रकट वासनाओं को मार्ग मिलता है। यह संक्रमण, जैसे सुषुप्ति में से जागृत अवस्था को जोडती कडी है, उसी प्रकार यह परलोक गमन एक लोक को दूसरे लोक के साथ जोडती कडी है ।

ब्रह्म उद्दीपक है - कर्ता या भर्ता नहीं है (#५) : ''आत्मा ब्रह्म ही है; उसे मन व प्राण स्वरूप मान कर मनोमय व प्राणमय कहा जाता है । उसे पंच महाभूत, भूतों की इन्द्रियाँ तथा उनके गुण-दुर्गुण माना जाता है । व्यक्ति जो कुछ करता व जैसे व्यवहार करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप को बदलता है ऐसा माना जाता है । उसे ही व्यक्ति की कामना कहा जाता है । काम के अनुसार वह संकल्प करता है, तथा संकल्प के अनुसार ही फल प्राप्त होता है ।'' इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा केवल उत्प्रेरक है, फिर भी सभी आरोप उसी पर रखे जाते हैं । व्यक्ति के आचार-विचार के अनुसार ही फल उपलब्ध होता है (१.६ आदितत्त्व-४ क) ।

(#६) कर्मफल भोगने के लिये परलोक गमन होता है । यह भोगने के पश्चात् जीव इस लोक में वापस आता है तथा अन्य कर्म करने को प्रेरित होता है । कामना ही पवित्र अथवा अपवित्र कर्मों की कारण है । जो निष्काम कर्म करता है, तथा जिसकी कामना मात्र ब्रह्म प्राप्ति ही हो, उसकी इन्द्रियाँ प्रयाण नहीं करती (अधिष्ठाता देवों में ही लय होती है), वह ब्रह्म को प्राप्त कर स्वयं ब्रह्म बन जाता है । (#७) ''जैसे सर्प अपनी कांचली को त्याग देता है उसी प्रकार शरीर स्थूल और सूक्ष्म को त्यागने के पश्चात् जो शेष रहता है वह आत्मा मात्र ही है, यही स्वयं-ज्योति ब्रह्म है ।'' इस मन्त्र से मुग्ध होकर राजा जनक ने महर्षि को एक हजार गायें अर्पण की । (#८) ज्ञान का मार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण एवं पुरातन है । ब्रह्मज्ञानी जीवित होते हुए भी विमुक्त है, तथा शरीर त्यागने के पश्चात् उसे मोक्ष प्राप्त होता है । (#९) मुमुक्षु इस मार्ग को अनेक प्रकार से देखते हैं । ब्रह्मज्ञानी को ''पुण्यकृत'' का पद प्राप्त है । यह कर्म का द्योतक नहीं है, क्योंकि कर्म व ज्ञान विरोधात्मक हैं ।

(#१०-१७) कर्म अंधकार की ओर तथा क्रियाकाण्ड घोर अंधकार की ओर ले जाता है । अज्ञानी आनन्द रहित लोक में गति करते हैं । जो जानते हैं कि ''मैं ही यह सब हूँ, और शरीर से भिन्न हूँ'' - उस ब्रह्मज्ञानी को

शारीरिक आधि–व्याधि से क्या सम्बन्ध? इस जन्म में जो आत्मा को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं; अन्य सभी दुःखों से कष्ट पाते हैं। जो आत्मा को– कर्मफल दाता, भूत–भविष्य का स्वामी–इस प्रकार जानते हैं, उन्हें ईशान–देव के पास रक्षा की याचना करने की आवश्यकता नहीं रहती, न ही उन्हें किसी की निन्दा–स्तुति करने की आवश्यकता रहती है। सूर्य तथा अन्य दैवी तत्त्वों का समूह इस शाश्वत ज्योति से प्रकट होता है। यह एक ही शाश्वत ज्योति है, अन्य सब नाशवान हैं। जिसकी निगरानी में रात–दिन के चक्र से संवत्सर बनता है, तथा जो सूर्य आदि की ज्योति की ज्योति है, उसकी देवगण ''आयुष्मान'' होने के लिये प्रार्थना करते हैं। दीर्घायु प्राप्त करने के अभिलाषी को इस शाश्वत ज्योति की प्रार्थना करनी चाहिये। ब्रह्म, जिसमें पाँच वस्तुओं से बने पाँच समूह (उदाहरणतः एक समूह गांधर्व, पितृ, देव, असुर तथा राक्षसों से बना हुआ है) – तथा (अव्याकृत) आकाश समाया हुआ है, वह शाश्वत है।

मैं इस गुणसम्पन्न ब्रह्म को जानता हूँ, यह ब्रह्म मैं ही हूँ।

ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म (#१८-२५) : इसका श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये।

(#१८) जो इसे प्राणों का प्राण, चक्षु का चक्षु तथा श्रोत्र का श्रोत्र रूप में जानता है वह इस अनादि तथा सनातन ब्रह्म का ज्ञाता है। (#१९) मन से ही ब्रह्म को जानो; यहाँ विविधता नहीं है तथा जो इसमें वैविध्य देखता है उसका पुनर्जन्म होता है। (#२०) ब्रह्म को इस दृष्टि से देखो : यह एक एवं अद्वितीय है; यह विशुद्ध, ध्रुव, अप्रमेय, (अव्याकृत) आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् तथा अविनाशी है। (#२१) बुद्धिमान मुमुक्षु अपनी प्रज्ञा इसी में लगाता है, तथा वाणी के विकार से दूर रहता है। (#२२) यह महान्, अजन्मा आत्मा प्राण का चेतन है, जो हृदय की गुफा में वास करता है। वह सर्व को वश में रखकर सर्व पर शासन करता है। इस आत्मा की आकांक्षायें करने की अपेक्षा वह विचार करता है कि संतति से क्या होगा? वह पुत्रेषणा, वित्तेषणा तथा लोकेषणा त्याग कर भिक्षाटन करता है। कोई भी एक एषणा अन्य दो की जननी है, अतः तीनों का ही त्याग करना चाहिये। ''नेति नेति'' द्वारा निर्देशित ब्रह्म अग्राह्य, अविनाशी, असंग तथा बन्धनमुक्त है, अतः व्यथित न होना चाहिये। वह अक्षय है। आत्मज्ञानी पाप–पुण्य से

निर्लिप्त है; उसे पुण्यकर्म का गौरव नहीं है, न ही पाप कर्म का पश्चाताप । उसे नित्य–कर्म का बन्धन नहीं है । (#२३) ऊपर आत्मज्ञानी द्वारा कहा गया तथ्य अब इस ऋचा में बताया गया है : ''ब्रह्मज्ञानी की महिमा इस प्रकार है कि कर्म से उसकी वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता । वह अपने स्वयं में ही आत्मा को देखता है, तथा प्रत्येक में वही आत्मा देखता है। वह पापरहित, विषय–वासना रहित तथा संशय रहित है।'' यहाँ महर्षि राजा जनक से कहते हैं कि उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, अर्थात् वे सर्वात्मा बन गये हैं । जनक ने उन्हें अपना साम्राज्य समर्पित किया और स्वयं उनके सेवक बन गये । (#२४) यह अजन्मा आत्मा सभी भूतों में रहकर समस्त अन्न का भोक्ता तथा कर्मफलदाता है । (#२५) जो जानते हैं कि आत्मा अजर, अमर, अमृत व निर्भय ब्रह्म है, वह स्वयं निर्भय ब्रह्म हो जाता है ।

(८.५.५) मैत्रेयी ब्राह्मण : इस विभाग की प्रथम १४ ऋचायें (८.३.२; बृहद् २.४) से मिलती जुलती हैं । केवल (#१५) वीं ऋचा, जो इस विभाग की अन्तिम ऋचा है, उसकी कई पंक्तियाँ (बृहद् २.४) की अन्तिम ऋचा से भिन्न है, जो इस प्रकार हैं : ''आत्मा, जिसका निर्देश ''नेति नेति'' से दिया गया है, वह अग्राह्य, अविनाशी, असंग तथा बन्धनमुक्त है; वह व्यथित अथवा क्षीण नहीं होता । मैत्रेयी, ज्ञाता को किस साधन से जानना चाहिये? इस प्रकार का उपदेश मैंने तुम्हें दिया है, विश्वास रखो कि यही अमृतत्त्व है।''यह कहकर महर्षि परिव्राजक हो गये ।

अन्त में महर्षि निःशंक रूप से बतलाते हैं कि मैत्रेयी के प्रश्न का समाधान इसी में है ।

(८.५.६) आचार्यों की परम्परा : प्रत्येक काण्ड के अन्त में गुरुओं की परम्परा प्रदर्शित करने की प्रथा श्रुति में प्रचलित है । जिस समय लेखन के साधन प्राथमिक अवस्था में थे, तथा दुर्लभ थे, उस समय इन महान् गुरुओं ने यह ज्ञान अथक परिश्रम करके प्रज्ज्वलित रखकर हम सभी पर वस्तुतः कृपा की है ।

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्या

संप्रदाय कर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो नमो गुरुभ्यः ।।